साहित्य

(साहित्य के विविध अंगों का क्रमबद्ध विवेचन)

लेखक

शिवनारायण शर्मा, बी० ए०, (आनर्स), साहित्य-भूषण

प्रकाशक

पुस्तक - प्रतिष्ठान

अशोक राजपथ

पटना ६

प्रकाशक
पुस्तक - प्रतिष्ठान
अशोक राजपथ
पटना ६

मूल्य ३)

मुद्रक
देवकुमार मिश्र
हिन्दुस्तानी प्रेस, पटना

मेरे दो शब्द

यह पुस्तक एक वर्ष पहले ही आपके सामने आ गयी होती, काश गया-प्रिंटर्स की असीम अनुकम्पा से इसे रद्दी की टोकरी नसीब न होती। पांडु-लिपि भूल जाने के बाद मुझे एक-एक लेख के लिए कहाँ-कहाँ की खाक छाननी पड़ी, ये शब्द नहीं बता सकते। फिर भी मुझे संतोष है इसलिए कि मैंने खोया हुआ पा लिया है। दूसरी कठिनाई जो मेरे सामने आयी, वह प्रकाशन की थी। मैं प्रकाशक नहीं था और प्रकाशकों की धाँधली में पड़ना भी नहीं चाहता था। मैं एक सहयोगी की खोज में था, जो प्रकाशक की हैसियत से नहीं, वरन् मित्र की हैसियत से मुझसे मिलें। खोजता रहा। कहा है—"जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ"। 'गर्ग' जी से मुझे इसी बीच बातें हुईं और उन्होंने मुझे सारी सहूलियतें देनी स्वीकार कर लीं; फिर मैं अपने ऐसे प्यारे मित्र को बारबार क्यों न धन्यवाद दूँ!

पुस्तक में संग्रहीत लेख अधिकतर 'साहित्य संदेश', 'विश्वमित्र' तथा 'विश्वबंधु' में प्रकाशित हो चुके हैं। जहाँ तक हो सका है, प्रत्येक लेख में साहित्य के एक अंग की समुचित आलोचना देने का प्रयास किया गया है। कला, काव्य, कहानी, नाटक, उपन्यास तथा निबंध साहित्य के ऐसे उपकरण हैं, जिनके विषय में पूरा ज्ञान रखे बिना हिंदी साहित्य का कोई विद्यार्थी आगे नहीं बढ़ सकता। खासकर पटना विश्वविद्यालय के इन्टर और बी० ए० के अनिवार्य हिन्दी पत्र में जब कि कोई ऐसी पाठ्य पुस्तक निर्धारित नहीं, किंतु प्रश्न अक्सर पूछ ही दिए जाते हैं, विद्यार्थियों को एक अजीब असमंजस का सामना करना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में पुस्तक शायद इन्टर और बी० ए० के विद्यार्थियों के भी काम की हो सकती है।

पुस्तक में कुल बारह लेख हैं। और अधिक लेख यदि मैं चाहता, तो दे सकता था किंतु, ऐसा न करने का एक कारण था। साहित्य के प्रधान अंगों का विवेचन हो चुका था। अनाप-सनाप देकर पुस्तक के कलेवर में वृद्धि करना मैंने फर्ज नहीं समझा। गद्य का विकास जान-बूझकर छोड़ दिया गया, क्योंकि निबंध और गद्य का विकास साथ ही साथ चलता है।

एक बात और। पुस्तक के प्रकाशन में मेरे मित्रों का असीम सहयोग रहा है। बंधुवर पं० हंसकुमार तिवारी, पं० रामदयाल पांडेय, (बालक-सम्पादक) प्रो० शिवनन्दन प्रसाद, कविवर रुद्र तथा श्री विश्वमोहन, एम० ए० (पारिजात-सम्पादक) इन पाँचों, जिनसे सारा साहित्य-जगत परिचित है, का मैं आभारी हूँ। इनकी सहायता मैं मूक ही रखना चाहता हूँ। साथ ही मेरे एक मित्र ने, जो साहित्यिक नहीं, किंतु साहित्यप्रेमी अवश्य हैं, मेरी पूरी सहायता पहुँचायी है। मैं अपनी धृष्टता स्वीकार करते हुए भी उनका पूरा परिचय आपको दे देना ही अच्छा समझता हूँ।

ये हैं महन्थ भागवत दास। जन्म, गया जिला में घोसी थाने के कोर्री गाँव में हुआ था। प्रवेशिका पास करने के बाद आप में एकाएक सेवा का भाव उमड़ आया और १६२२ में कांग्रेस के स्वयंसेवक बन गये।

१६२४ में आप गया कौन्सपीरेसी दल में दाखिल हुए, जो उन दिनों लोक-सेवा-समिति के नाम से चल रहा था। १६२६ में धोखे से मानपुर महंथ के मुड़िया बना लिए गये, किंतु तत्काल ही जैसे-तैसे चंगुल से निकल भागे। १६२७ में हिंदू सभा में भर्ती हुए और फिर संसर्गवश प्रांतीय युवक-संघ में। १६२८ में कलकत्ता-कांग्रेस में चले गये और बाद १६३० के भद्र आंदोलन में शिविर-संरक्षक की हैसियत से भाषण दिया और एक वर्ष के कठिन कारावास के अधिकारी बने। १६३१ में जिला-कांग्रेस के उपमंत्री रहे तथा १६३३ में गया कौन्सपीरेसी के प्रथम कैदी बनाये गये, जिसमें ढाई साल का कठिन कारावास मिला। पूरी अवधि काटने के बाद भी दो वर्ष तक नजर-बंद रहे। १६३८ से ४० तक जिला बोर्ड के सदस्य का काम किया। व्यक्तिगत सत्याग्रह में आप जिला के प्रधान बना दिये गये, क्योंकि इसमें पूरी जिम्मेदारी और अनुशासन पालन की तो आवश्यकता थी। १६४२ में इन पर सरकार की शनि-दृष्टि फिर पड़ी और १८ अगस्त को जंजीर में जकड़ दिये गये। १६४५ के जून में सरकार ने फिर पेरोल पर छोड़ा और १६४६ के मार्च में प्रान्तीय एसेम्बली के सदस्य बनाये गये। आज हिंदू-मुस्लिम दंगे में तो इनका कार्य स्तुत्य हो रहा है। ईश्वर इन्हें दीर्घायु करें, जिसमें इनसे साहित्य की मदद होती रहे।

पुनः मैं बाबू ब्रज किशोर नारायण सिंह, ऐडवोकेट, पटना हाई कोर्ट, बाबू राजेन्द्र प्रसाद अग्रवाल (ऊषा-संचालक), श्री सुरेशचन्द्र, बी० ए०

आनर्स तथा श्री मदनमोहन सिन्हा 'सरोज' के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, जिनकी सहायता मुझे अनिवार्य रूप से लेनी पड़ी है।

अंत में पूज्य आचार्य तथा हिंदी के प्रकांड विद्वान् डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी 'शास्त्री', एम० ए० (त्रितय), डी० लिट० ने मेरी इस तुच्छ भेंट को स्वीकार कर तथा समय-समय पर बहुमूल्य परामर्श दे मुझे जो आत्मतोष दिया है, इसके लिए मैं चिर-कृतज्ञ रहूँगा।

यह पहला प्रयास है। यदि पुस्तक साहित्य-जगत् की थोड़ी भी सेवा कर सकी, तो मैं अपने को सफल समझूँगा।

मार्गशीर्ष पूर्णिमा
२००३

—शिवनारायण

विषय-सूची

विषय



लकीरों की कसौटी

सोना सोना है, चाँदी चाँदी है। क्या सोने को कोई पीतल कहने की हिम्मत करेगा? और यदि कोई हिम्मत करे भी तो क्या सिर्फ हिम्मत के डर से सोना पीतल बन जायगा? चाँदी क्या किसीकी बात सही करने के लिए, जादू के प्रभाव में आकर, शीशा बन जायगी? इन सब सवालों का सिर्फ एक ही जवाब है—नहीं, हरगिज नहीं।

लेकिन, इस एक 'नहीं' के जवाब से ही सवालों का अन्त नहीं होता। कभी-कभी जवाब भी सवाल ही बन जाता है। कभी-कभी सवाल का जवाब सवाल ही होता है। सवाल ही सवाल को समाप्त कर देता है। और, कभी जवाब भी सवाल का अन्त नहीं कर पाता। वह सवालों की एक लम्बी शृंखला सामने लाकर उपस्थित कर देता है। ऐसा ही यह जवाब है। यह एक नया सवाल पैदा करता है—कसौटी की क्या जरूरत? सोना कितना सुन्दर चमकता है? चाँदी की कैसी उज्ज्वल आत्मा होती है? फिर काली-कलूटी कसौटी का क्या प्रयोजन? क्या सोने-चाँदी की दीप्ति का दर्पण यह कसौटी ही है? क्या पृथ्वी की कसौटी नीला आसमान ही है? अथवा, क्या सूर्य-चन्द्र-तारकों की कसौटी है सूना-सूना श्यामल आकाश? स्थूल की कसौटी सूक्ष्म और सूक्ष्म की कसौटी स्थूल? प्रकाश की कसौटी अंधकार? उज्ज्वलता की कसौटी श्यामलता? जीवन की कसौटी मृत्यु? क्या यही सच है? अगर यह प्रत्यक्ष चित्र सत्य नहीं है तो सत्य क्या है? क्या है? क्या है?

सत्य दोनों ही हैं। सोना भी सत्य है और कसौटी भी। जीवन भी सत्य है और मृत्यु भी। प्रकाश भी सत्य है और अन्धकार भी। सोने की स्वर्णाभा कसौटी पर ही प्रत्यक्ष नृत्य करती है। जीवन का जादू मृत्यु की छाया में पलता है। प्रकाश की प्रदीप्ति अन्धकार की ओट में अँगड़ाइयाँ लेकर जवान होती है। अन्धकार प्रकाश का प्रतिवादी ही नहीं है, वह उसका एक पहलू भी है, एक पूरक भी है। प्रत्यक्षतः दो विरोधी रूप-रंग

रखते हुए भी सोना और कसौटी परस्पर प्रतिलोम नहीं है बल्कि एक दूसरे की सार्थकता हैं, एक दूसरे का सत्य हैं। जीवन की चित्रवर्णता और और मृत्यु की विवर्णता में भी परस्पर मौलिक विरोध नहीं है। प्रत्यक्ष का वैषम्य परोक्ष के समन्वय का ही नास्तिवादी सत्य (निगेटिव ट्रुथ) है। जिस प्रकार 'निगेटिव' से 'पाजिटिव' फोटो सम्भव होता है, उसी प्रकार कसौटी से सोने का वास्तविक रूप प्रत्यक्ष होता है।

लेकिन कसौटी सोने को प्रायः अविकल छोड़ देती है। वह तो सिर्फ लकीरों को ग्रहण करती है। उन लकीरों की एक भाषा होती है जिसका ज्ञान पारखियों को होता है। पारखी उन लकीरों से बातचीत करते हैं। लकीरें बोल उठती हैं—मैं ठीक सोना हूँ, मैं मध्यम श्रेणी का सोना हूँ, मैं देखने में सोना हूँ पर मैं दरअसल सोना नहीं हूँ, मैं चाँदी हूँ, मैं रूपा हूँ, मैं पीतल हूँ, इत्यादि। उन लकीरों में सोने-चाँदी की प्रकृति बोलती है। उन लकीरों के माध्यम से ही पारखी सोना-चाँदी की आकृति-प्रकृति को प्रत्यक्ष कर लेता है।

इसलिए सब कुछ लकीरों में ही नहीं है। लकीरों के अलावा पारखी की आँखों में भी बहुत कुछ है। सब पारखी समान नहीं होते, यद्यपि कसौटी की लकीरों को सभी देखते हैं। लकीरों को तो साधारण मनुष्य भी देख सकता है और उसकी बाहरी बारीकी को समझ सकता है। लेकिन भीतरी बारीकी को देखना और समझना टेढ़ी खीर है। उसके लिए भीतरी आँखें चाहिए। बाहरी आँखें वहाँ बेकार हैं। अच्छी आँखोंवाले नए पारखी परखने में धोखा खा सकते हैं लेकिन आँखों में कुछ शिकायत होने पर भी किसी अनुभवी पारखी की परख में कोई शिकायत न होगी। इसलिए कि अनुभवी पारखी ने सोने के विविध रूपों को बहुत निकट से देखा और समझा है। वह सोने की सारी अच्छाइयों और बुराइयों से, उसके सारे गुण-दोषों से परिचित है। उसने सोने के सम्बन्ध में पूरी दिलचस्पी ली है, सोने की परख की उसे लगन लगी है। उसने सोने की साधना की है। सोने की साधना के बाद वह लकीरों का साधक बना है। अब लकीरों को देखकर भी वह सोने को प्रत्यक्ष कर सकता है। सोना चाहे परोक्ष में हो पर यदि लकीर प्रत्यक्ष है तो उसके लिए सोना भी प्रत्यक्ष है।

प्राचीन भारतीय शव-साधना के द्वारा जीवन को प्रत्यक्ष कर लेते थे। आज भी शव-साधकों का एक लम्बा-चौड़ा सम्प्रदाय भारत भूमि का भार बना हुआ है जो जीवन तो क्या, मृत्यु को भी प्रत्यक्ष नहीं कर पाता। उसकी साधना शव बन गई है, निस्तेज एवं निष्प्राण। स्वयं भी आज वह शव बन गया है, अज्ञ और अकर्मण्य। जैसे आज उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ जड़ हो गई हैं और कर्मेन्द्रियाँ शिथिल। उसके पास साध है परन्तु साधना नहीं है। उसमें चिकीर्षा है परन्तु कर्मनिष्ठा नहीं है। इसीलिए आज वह कर्मिष्ठ नहीं है। आज के भारत का यह दुखद सत्य है। केवल शव-साधकों का प्रश्न नहीं है। समस्त भारत आज ज्ञान-तन्तुओं और कर्मतन्तुओं से विच्छिन्न हो गया है। आज लकीरों की कसौटी उसके पास नहीं है। है भी तो घिस गई है। वह कम घिसी है लेकिन उसके पारखी भारतीयों की आँखें अधिक घिसी हैं। आज का भारत लकीर का पारखी नहीं, लकीर का फकीर है। उसे अपनी कसौटी चाहिए। उसे अपनी आँखें चाहिए। उसे अपनी ज्योति चाहिए, अपनी चेतना चाहिए, अपनी चिन्तना चाहिए।

सत्य भारत की ही सीमाओं में सीमित नहीं है। भवभूति के शब्दों में, काल निरवधि है, पृथ्वी विपुला है,। सत्य भी निरवधि है। देश-काल की सीमाओं में वह कभी बन्दी न बना। वाल्मीकि और व्यास ने क्रमशः 'रामायण' और 'महाभारत' का प्रणयन किया, होमर ने 'इलियड' और 'ओडीसत' की रचना की। श्रद्धालु आलोचक तो इन्हें असीमित प्राचीनता के गर्भ में डाल देते हैं परन्तु इतिहास की प्रवृत्तियों के अध्ययन से पता चलता है कि भारत और यूनान की इन दो धाराओं में समय का बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। होमर का तो इतिहास साक्षी है कि वे ईस्वी पूर्व आठवीं शताब्दि के यूनानी साधक एवं कलाकार थे। 'रामायण' और महाभारत' का समय भी अनुमानतः ईस्वी पूर्व १५०० से लेकर १००० तक प्रतीत हुआ है। मानव-विकास की परम्परा में यह कुछ शताब्दियों का अन्तर कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। और 'रामायण' के 'राम'—'रावण' में, 'महाभारत' के 'कृष्ण' और 'अर्जुन' में यदि सत्य की मात्राएँ हैं, तो होमर के 'इलियड' और 'ओडिसी' में भी सत्य सर्वांशतः उपेक्षित-अनुपस्थित नहीं है।

कालिदास और शेक्सपियर में भी समय का अन्तर है। इसी प्रकार उनके काव्यों में भी अन्तर है। शेक्सपियर और तुलसीदास में समय का अन्तर न होते हुए भी दोनों के काव्यों में प्रत्यक्ष अन्तर है। दोनों एक ही समृद्ध युग

के कला-तपस्वी थे, दोनों एक समान समृद्ध साम्राज्यों के शिल्पी थे। परन्तु दोनों की अनुभूतियाँ और अभिव्यक्तियाँ, कल्पनाएँ और कला-रेखाएँ भिन्न-भिन्न हैं। शेक्सपियर का 'रोमियो' तुलसी का 'राम' नहीं है, उसकी 'जुलियट' तुलसी की सीता नहीं है। किन्तु, फिर भी तुलसी और शेक्सपियर दोनों ही सच्चे कलाकार हैं, झूठा इनमें कोई नहीं है। 'हैमलेट', 'जुलियस सीजर', 'किंग जान', 'ऑथेलो', 'मैकबेथ', 'मरचेंट ऑव वेनिस' आदि के जागरूक पाठकों को यह समझते देर नहीं लगती कि शेक्सपियर की कल्पना में भी पश्चिमी सिद्धान्तों के वातावरण में पलनेवाले 'राम' हैं और 'सीता' भी हैं। 'रावण', 'सूर्पणखा' और 'कैकेयी' का तो पाश्चात्य साहित्य में बाहुल्य ही है। परन्तु इतना निश्चित है कि पाश्चात्य मनीषी भी रावणी-वृत्तियों से क्षुब्ध एवं संतप्त ही हुए हैं। कोई अर्द्धमानव या उपमानव दानवी वृत्तियों का समर्थन भले ही करे, परन्तु कोई मानव शिल्पी दानवता के दर्प का चारण नहीं बन सकता। मनीषी तो मानव से भी ऊपर उठकर अतिमानव के उत्तुंग क्षितिज को स्पर्श करने की साधना करता है।

जो भी हो, इतना निश्चित है कि पूर्व और पश्चिम की विभाजक रेखाएँ सत्य के आकार को विभाजित या सीमित करने में समर्थ न हो सकीं। विपुला पृथ्वी में सत्य के विपुल रूप हो सकते हैं। परन्तु इन विविध रूपों के बावजूद सत्य अजर-अविनश्वर है, सार्वकालिक है, सार्वजनीन है, सार्वभौम है। सत्य का कलेवर प्राच्य और पाश्चात्य हो सकता है, उसकी आत्मा उदयाचल और अस्ताचल पर समान है, अविकल है, अप्रभावित है, अपरिवर्तित है।

गौतम, कपिल, पतंजलि आदि भारतीय महर्षियों और सुकरात, प्लेटो, अरस्तू आदि यूनानी मनीषियों की सत्य-साधना के समय में बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। उनकी साधनाओं के साथ ही उनकी सिद्धियाँ भी बहुत विषम नहीं हैं। उनमें सामानता के ऐसे तत्व हैं, ऐसे सूत्र हैं, जो सबको एक साथ बाँधे हुए हैं।

इसलिए प्राच्य चिन्तना और पाश्चात्त्य चिन्तना का वैसा कोई कलह नहीं है जिसके कारण पूर्व के लिए पश्चिम की चिन्तना अथवा पश्चिम के लिए पूर्व की चिन्तना वहिष्कार्य हो जाय। राजनीति में राष्ट्रीयता का मोह हो सकता है। परन्तु साहित्य में मोह अथवा संकीर्णता के लिए कोई स्थान नहीं।

भारत के सम्पूर्ण आरम्भिक इतिहास के साथ ही नाट्य कला के आदि

आचार्य भरत मुनि का भी समय विवादग्रस्त है। किन्तु, इतना निश्चित है कि उन्होंने अपने नाट्यकला सम्बन्धी सिद्धान्त आज से डेढ़-पौने दो हजार वर्ष पहले प्रतिपादित किए थे। उन्होंने रसों और स्थायी भावों का वर्ग-विभाजन किया था। कई शताब्दि बाद आनेवाले विश्वनाथ कविराज और पण्डितराज जगन्नाथ भी उनसे कोई यथार्थ मौलिक विभिन्नता नहीं रखते। रसात्मक वाक्य काव्य हो अथवा रमणीय अर्थ का प्रतिपादक वाक्य काव्य हो, काव्य की परिभाषा में कोई मौलिक विवाद नहीं है। काव्य का प्रयोजन यश हो, अर्थ हो, व्यवहार-ज्ञान हो, सद्यः परिनिवृत्ति हो अथवा कला हो, यह कोई बहुत बड़ा कलह नहीं है। देश-काल की परीधियों एवं प्रवृत्तियों के अनुकूल इनमें से कोई न-कोई, और प्रायः यह सब कुछ, काव्य का प्रयोजन रहेगा।

परन्तु, यह युग पूर्व का नहीं, पश्चिम का है। प्राचीन प्रबुद्ध पूर्व इधर कई शताब्दियों से अबुद्ध रहा है। उद्बुद्ध होने के लिए अब वह प्रयत्नशील है। परन्तु उसकी लम्बी परमुखापेक्षिता का शीघ्रता और तीव्रता के साथ अन्त सम्भव नहीं। ज्ञान की किरणें इधर की शताब्दियों में अस्ताचल से आई हैं, उदयाचल से नहीं। नवयुग का सूर्य पश्चिम में उदित हुआ है, पूर्व में नहीं। सम्भव है, अब वह दिशा-परिवर्तन करे। किन्तु इसका अभी कोई निश्चित संकेत नहीं। सब कुछ अनुमान-अनुमान है, आशा-आशा है।

ज्ञानोदय की इस परिवर्तित दिशा के कारण काव्य, साहित्य और कला के मूल्य, मान और मूल्यांकन के नए-नए क्षितिज भी प्रत्यक्ष हुए हैं। मध्य युग से लेकर अब तक पश्चिम का सारा इतिहास गगन बादलों के गर्जन और बिजलियों के तर्जन से भरा रहा है। इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली और जर्मनी के पारस्परिक सम्बन्धों में कभी प्रीति की मधुरता और कभी विग्रह की वीभत्सता आती रही है। फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने, इटली के देश भक्ति पूर्ण विप्लव ने, इंगलैण्ड की औद्योगिक उथल-पुथल ने और रूस की महान् जनक्रान्ति ने नवीन आवश्यकताओं, नवीन मूल्यों और नूतन मूल्यांकनों की सृष्टि की। इन अभिनव मूल्यों-मूल्यांकनों का प्रभाव कला और साहित्य पर भी अनिवार्य रूप में पड़ा। साहित्य और कला के लिए इनसे अप्रभावित रह सकना शक्य भी न था।

उधर अमेरिका के स्वतंत्रता-संग्राम और उसके समृद्ध पूँजीवाद का

प्रभाव भी साहित्य पर अनिवार्यतः पड़ा। इसके पूर्व ही संसार के राजनीतिक, व्यावसायिक एवं भौगोलिक जगत् में मार्कोपोलो और वास्कोदिगामा ने नवीन दिशाओं की ओर संकेत किया था। पूर्व और पश्चिम में नवीन और प्राचीन लोकों के सम्पर्क से नूतन अनुभूतियों और अभिनव कल्पनाओं का समुद्भाव स्वाभाविक ही था। समुद्रों के बाहुबन्धन से एक नवीन गति पैदा हुई।

निकट भूतकाल में तो गति और भी तीव्र हो गई है। वायु की गति और परमाणु की शक्तियों ने अपने पूर्व के समस्त विश्वासों और व्यवस्थाओं को प्रभावित किया है। परन्तु वर्तमान आज भूत और भविष्य के बीच में संन्धिकाल बना हुआ है। अतः आज कोई भी भविष्य-वाणी शायद ही असन्दिग्ध हो।

मध्य युग से लेकर अति आधुनिक युग तक की अवधि-परिधि में विभिन्न दिशाओं की ओर संकेत करते हुए, बहुत-से कलाकार अपना अभिनव अर्घ्य लेकर आये हैं। इंग्लैण्ड में शेक्सपियर के बाद से मिल्टन वर्ड्सवर्थ, ब्राउनिंग, बाइरन, शेली, कीट्स, बर्न्स, स्विनबर्न, रासिटी, ब्लेक, इलियट, एजरा पाउंड, स्पेन्सर आदि कवियों ने विभिन्न दिशाओं और क्षितिजों की ओर संकेत किया है। आयरलैण्ड के कवि ईट्स ने भी रहस्यवाद का एक नया क्षितिज ही उपस्थित किया था। इनके पूर्व इटली में दाँते और जर्मनी में गेटे ने अपने काव्यों के द्वारा प्रीति एवं आनन्द के ऊँचे क्षितिजों की ओर संकेत किया था। सुदूर अमेरिका से वाल्ट ह्विटमैन ने मानववाद और प्रजातंत्रवाद का स्पष्ट स्वर सुनाया था। इधर रूस में पुश्किन के बाद मायकोवस्की और उनके समकालीन कवियों ने भी समाजवादी समाज की असीम संभवनाओं का गौरव मुखरित किया है।

बीसवीं शताब्दि के इस पूर्वार्द्ध में ही दो-दो विश्वयुद्धों ने अपनी विभीषिकाओं और नृशंसताओं के द्वारा समस्त जीवन की तरह, उससे सम्बद्ध कला और साहित्य के सामने भी एक नवीन प्रश्नचिह्न उपस्थित कर दिया है। विज्ञान की आवश्यकताओं ने कला के सम्पूर्ण अस्तित्व को अनावश्यक सिद्ध कर देने की चुनौती दी है।

परन्तु सच्चे वैज्ञानिक की तरह ही सच्चे कलाकार और साहित्यकार भी ऐसी चुनौतियों से भयभीत नहीं हो सकते। उन्हें दृढ़ संकल्पों और स्वस्थ

मनोदशाओं के साथ अपनी साधना के सुमंगल-पथ पर अग्रसर होना है। उन्हें सदा ध्यान रखना है—'कार्यं वा साधयामि,' अकार्यं वा पातयामि।'

साहित्य में कविता के साथ ही आख्याकायों ने, उपन्यासों ने, नाटकों ने और निबन्धों ने भी इधर अपने परिवर्तित और पृथक्-पृथक् क्षितिजों का संकेत उपस्थित किया है। इसके साथ ही विज्ञान और मनोविज्ञान ने भी साहित्य की चिन्तना को प्रभावित किया है। कांट, हीगेल, फ्रायड, एडलर, युंग आदि मनोवैज्ञानिकों ने प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः, निश्चित रूप से साहित्य को और उसकी कसौटी आलोचना-शास्त्र को प्रभावित किया है।

यह सब कुछ है, परन्तु अभी तक जैसे कला का प्रयोजन विवाद का अन्त करने में समर्थ न हो सका। कला के प्रयोजन का कोई वैसा प्रश्न न था। परन्तु अठारहवीं शताब्दि में मैथ्यू आरनल्ड ने कला कला के लिए' का नारा लगाकर एक विवाद को जन्म दिया। कलाकारों, कलामर्मज्ञों और कला के प्रेमियों ने प्रश्न किया—क्या आत्मनिष्ट (सबजेक्टिव) होने के अलावा कला का कोई प्रयोजन नहीं है? क्या कला के सम्बन्ध में केवल इसीसे सन्तोष कर लेना पर्याप्त है कि वह कला है?'

अठारहवीं शताब्दि में ही रूसो ने अपने विप्लवकारी साहित्य के माध्यम से उत्तर दिया—'कला प्रकृति है, कला वातावरण है, कला जीवन है, कला विकास है।' उन्नीसवीं शताब्दि के आते-आते रूस में टाल्सटाय ने, इटली में गैरीबाल्डी, मैजिनी और क्रोशे ने, और अमेरिका में वाल्ट ह्विटमैन ने अपनी साहित्यिक साधनाओं के स्वर में स्पष्ट किया—'कला जीवन है, जीवन की नैतिकता है, मानव-स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति है, जीवन का आनन्द-मंगल है।' अमेरिका में अप्टन सिनक्लेयर ने और रूस में मैक्सिम गोर्की ने अपनी-अपनी साहित्योपासना में जीवन की पीड़ितावस्था, विवशता और वीभत्सता को भी स्वर दिया, स्वरूप दिया और सजगता दी। रवीन्द्रनाथ और प्रेमचंद ने, सोलोखोव और एहरेनबर्ग ने, बर्नार्डशा और हार्डी ने, सोमरसेट मॉघम और पर्ल बक की साधनाओं ने साहित्य की प्रयोजनीयता को प्रत्यक्ष और असन्दिग्ध कर दिया है।

'कला कला के लिए' के समान ही एक नया नारा चल पड़ा—'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्'। यह नारा बंगाल के कंठ से चलकर सारे भारत में गूँज गया। इस नारे का प्रयोजन था कला के तत्त्व, रूप और तात्पर्य को व्यक्त

करना। इस नारे ने कहा—कला सत्य की—जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति हो, कला का स्वरूप सुन्दर हो, उसकी अभिव्यक्ति चमत्कारपूर्ण हो।

यह कोई नया नारा न था। भरत मुनि, विश्वनाथ कविराज और पण्डितराज जगन्नाथ ने भी यह नारा दिया था। परन्तु बहुत दिनों का भूला हुआ नारा एक नवीन एवं आकर्षक रूप में आकर अपना एक अलग आकर्षण रखने लगा।

हैजलिट, आरनल्ड, टॉलस्टाय, क्रोशे, रामचन्द्र शुक्ल, रिचार्ड्स, एरिक गिल, काडवेल आदि सभी आलोचनाशास्त्रियों के सिद्धान्तों की यही पृष्ठभूमि है। 'कला कला के लिए' भी है, 'कला जीवन के लिए' भी है, 'कला, में नैतिकता भी अपेक्षित है', 'कला उपयोगी अथवा वस्तुनिष्ठ भी (ऑब्जेक्टिव) है', 'कला चिरन्तन सत्यों को भी व्यक्त करती है', 'कला समाज का दर्पण भी है', 'कला जनता के हाथों का अस्त्र भी है।' इनमें से प्रत्येक उक्ति एक दूसरे से कोई तात्त्विक भेद नहीं रखती। भेद केवल तत्त्वविशेष की मात्रा का है। कला जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है, इस कारण वह जीवन से विच्छिन्न नहीं है। विगत महायुद्ध में रूसी कलाकारों ने अपनी कलम और कूँची को रूस का अस्त्र बनाकर इसे और भी स्पष्ट कर दिया है। हाँ, आस्कर वाइल्ड और उनके अनुयायी इन सिद्धान्तों के आजीवन विरोधी बने रहने को स्वतन्त्र हैं।

प्रस्तुत पुस्तक कला एवं साहित्य की विवेचना का एक स्वस्थ एवं सजग प्रयास है। हिन्दी-साहित्य में ऐसे प्रयासों की आज बड़ी आवश्यकता है। इन प्रयासों की पृष्ठभूमि भारतीय हो, पर उनकी दृष्टि संकीर्ण न हो। वे भरत मुनि से लेकर आज तक के आलोचक-लोचनों को देखें। परन्तु नवीन आलोचकों की आँखें भारत को बिल्कुल भूल न जायँ। उन्हें ध्यान रहे कि विदेशी युकेलिप्टस का लम्बा किन्तु नंगा वृक्ष भारत की भूमि पर ही लगाया जायगा। यदि यह युकेलिप्टस भारत की आवश्यकताओं का पूरक बनने के बजाय उसके हितों का घातक बन गया तो उसका भारत के लिए क्या प्रयोजन? भारतीय रोगी को दवा चाहिए लेकिन ऐसी दवा नहीं चाहिए जो कोढ़ में खाज पैदा करे। हम युगधर्म के अनुकूल नवीन मानव तो बनना चाहते हैं किन्तु हास्यास्पद नहीं बनना चाहते। हमारे राष्ट्र की विशेष आवश्यकताएँ हैं, विशेष परिस्थितियाँ हैं और विशेष संकल्पनाएँ हैं। आज हमें एक उद्बोधक संकेत चाहिए, जो हमें आत्मचेतना देकर, हमारी

अपनी चिन्तना देकर, प्रबुद्ध करे ; जो हमारी शव-साधना को जीवन का रूप प्रत्यक्ष करने की सामर्थ्य दे, जो हमें स्वतंत्र दृष्टि-क्षितिज और स्वाभिमानी चिन्तन का गौरव दे। हमारे आलोचना-शास्त्री इसे न भूलें। उनकी पृथक् जिम्मेदारियाँ हैं, उनका एक स्वतंत्र उत्तरदायित्व है। आलोचना साहित्य भी है और शास्त्र भी। साहित्य के अन्य अंगों की प्रयोजनीयता के साथ उसकी भी प्रगति की अपनी प्रयोजनीयता है। इस प्रगति के लिए स्वस्थ एवं सुज्ञ लेखनी चाहिए। अज्ञ, अल्पज्ञ और उत्तरदायित्वहीन लेखनियाँ आज उसकी प्रगति की साधिका न बनकर बाधिका ही बन रही हैं। एक स्वस्थ नारा चाहिए—स्वस्थ हो, सजग हो, सतर्क हो, सावधान हो।

ऐसा क्यों? इसलिए कि हमारा हिन्दी-साहित्य आज समृद्धि की दिशा में तेजी से कदम बढ़ा रहा है। वह जागरूक और कृतसंकल्प है। उसमें स्वाभिमान का स्वर है। परतंत्रता के साथ ही अपूर्णता से भी वह युद्ध कर रहा है। आज उसकी चर्चा की जरूरत है। अधिक से अधिक चर्चा से उसकी जागरूकता और कृतसंकल्पता बढ़ेगी। जब हिन्दी-साहित्य को हमें जनता का संस्कार बनाना है, तब तो उसकी चर्चा और भी आवश्यक हो जाती है।

तरुण साहित्यालोचक श्री शिवनारायण शर्मा ने शुद्ध मस्तिष्क एवं शुभ संकल्पों के साथ हिन्दी के आलोचना-साहित्य को अपनी साधना की भेंट दी है। उन्होंने संकलन किया है, संचयन किया है, चिन्तन किया है और सिद्धान्तों की दिशाएँ निश्चित की हैं। उन्होंने अपने स्थूल परिश्रम को प्रबुद्धि की सूक्ष्म चेतना भी दी है। उनके ये निबन्ध साहित्य-देवता की सूक्ष्म आत्मा को मूर्त-मुखर बनाकर साहित्य-पाठकों के सम्मुख रखने का एक विनम्र किन्तु सम्पन्न प्रयास हैं। इनमें से अधिकांश आलोचनाप्रधान मासिक पत्र 'साहित्य-सन्देश' में प्रकाशित होकर अपनी उपादेयता सिद्ध कर चुके हैं। साहित्य के तरुण रसिकों एवं विद्यार्थियों के लिए इनकी उपयोगिता इसलिए निर्विवाद है कि लेखक ने अपने व्यक्तित्व के विवाद को प्रविष्ट न होने देने की सतर्क चेष्टाएँ की हैं।

इन निबन्धों की शैली, चलताऊ न होते हुए भी जटिल नहीं है। उसकी आन्तरिक सरलता सराहनीय है। सरलता से चपलता या आलंकारिकता की आशा नहीं की जा सकती। सोना और कसौटी में जो अन्तर है, वह

साहित्य और उसकी अलोचना में भी रहेगा ही। सोने की दीप्ति कसौटी के सरल-श्यामल रूप से सुलभ नहीं हो सकती। गांधीजी की अङ्गरेज साधिका शेरिडन ने कहा था कि जीवन के सौन्दर्य के विवेचक गांधीजी का स्वरूप सुन्दर होने के बजाय वीभत्स है।'

इस पुस्तक में आलोचना-शास्त्र के प्रायः अधिकांश सार्वभौम एवं सार्वजनीन सिद्धान्त प्रसंगनुसार एकत्र हो गए हैं। जिज्ञासु पाठक अवश्य ही इस चयनिका का स्वागत करेंगे। आलोचना-साहित्य के क्षेत्र में साधनाशील तरुण श्रीशिवनारायण शर्मा का मैं सहर्ष स्वागत करता हूँ, और आशा करता हूँ कि हिन्दी-संसार भी सहृदयता के साथ स्वागत करने में किसी संकीर्णता का परिचय न देगा।

पटना
शुक्ल प्रतिपदा,
मार्गशीर्ष, २००३ वि०

—रामदयाल पाण्डेय

पूज्य आचार्य डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

एम० ए० (त्रितय), पी० एच० डी०, काव्यतीर्थ

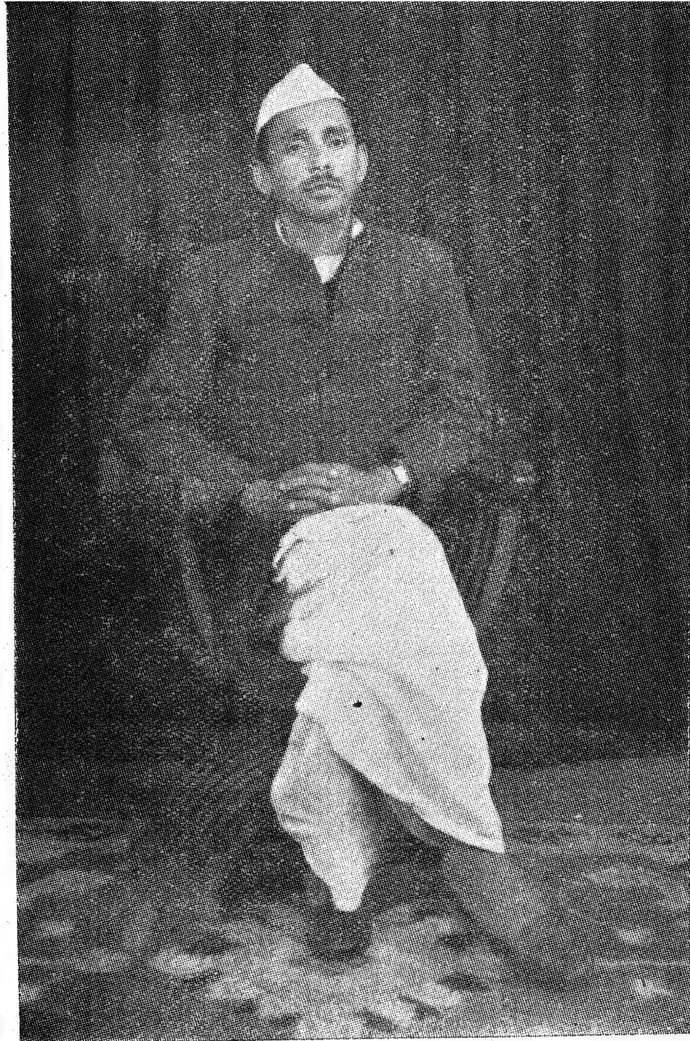
के

करकमलों में

—शिवनारायण



आचार्य डा० धर्मेन्द्रब्रह्मचारी शास्त्री
एम० ए० (त्रितय), पी० एच० डी०, काव्यतीर्थ



लेखक के परम मित्र
श्रीयुत् महंथ भागवत दास, एम० एल० ए० (विहार)



लेखक

साहित्य

कला

कला की परिभाषा—विभिन्न विद्वानों ने कला की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। और, कितने लोगों ने तो स्पष्ट शब्दों में यहाँ तक कह दिया है कि कला की कोई ठोस परिभाषा स्पष्ट रूप में दी ही नहीं जा सकती। यों तो परिभाषाएँ सैकड़ों दी जा सकती हैं, किन्तु उनमें नुकताचीनी की गुञ्जाइश रह ही जायगी। एक अँगरेज लेखक महोदय का कहना है—"हृदय की सुन्दरतम अनुभूतियों की अभिव्यंजना ही कला है।" किन्तु यह परिभाषा अस्पष्ट-सी लगती है। यदि सुन्दरतम अनुभूतियों की अभिव्यंजना ही कला है, तो असुन्दर अनुभूतियों की अभिव्यंजना कला के क्षेत्र में नहीं आती। हृदय की अभिव्यंजना भी कलात्मक हो सकती है।

श्यामसुन्दर दासजी ने कला के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है कि जिस समय चैतन्य मनुष्य पर वाह्य सृष्टि की विविध वस्तुओं की छाप पड़ने लगी थी, लगभग उसी समय उसमें उसके भिन्न-भिन्न प्रभावों के अभिव्यक्त करने की क्षमता भी आने लगी थी। कालानुक्रम से अभिव्यंजना की शक्ति का विकास होता गया और साथ ही अभिव्यंजना की भिन्न-भिन्न विधियाँ भी प्रतिष्ठित होती गयीं।

अभिव्यंजना की इन्हीं विधियों को कला संज्ञा दी गयी, परन्तु यद्यपि अभिव्यंजना का नाम ही कला दिया गया, तथापि संपूर्ण अभिव्यंजना को कला नहीं कहा जा सकता। प्रसिद्ध विद्वान टालस्टाय ने कला की परिभाषा यों दी है—"Art consists in this that one man willingly by means of certain external signs hands on to the other feelings and experiences he has lived through and that others are also affected by these feelings and experiences." मानव-जीवन की अनुभूतियों की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति, जिसके द्वारा हम अन्य सहृदयों में भी तत्-सदृश अनुभूतियाँ जाग्रत कर सकें और इन अनुभूतियों के द्वारा रस-संचार कर सकें, कला है। किन्तु कलाकृतियों के सम्बन्ध में प्रश्न उठता है कि वे कलाकार के मन में तो स्वयं प्रकाशजन्य ज्ञान (intuition) उत्पन्न कर देंगी, किन्तु दर्शक, पाठक या समीक्षक के मन में वे उसी प्रकार की अभिव्यक्ति किस प्रकार उत्पन्न करेंगी ? (दर्शक, पाठक या समीक्षक सभी के अंतर्गत कला की सफल अभिव्यक्ति हो सकती है।—क्रोचे ने एक जगह लिखा है—"And what are these combinations of words which are called poetry, prose, poems, novels, romances, tragedies, commedies, but physical stimulants of reproduction." इसका एकमात्र उत्तर यही होगा कि कला की सफल अभिव्यक्ति के लिए पाठक को भी कलाकार के मानसिक धरातल तक ऊँचा उठना होगा। तभी प्रतिभा (genius, जो कलाकार से सम्बन्धित है) और रुचि (Taste, जो पाठक से सम्बन्धित है) का मिलाप होकर कला के साथ पूरा न्याय हो सकेगा। किन्तु जबतक पाठक कलाकार के धरातल तक नहीं पहुँचता, वह उस कृति में सौंदर्यानुभूति नहीं कर सकेगा। परन्तु ठीक विपरीत जब वह कलाकार के मानसिक

धरातल को छूता दृष्टिगोचर होता है, तो वह उसके मानसिक धरातल में पहुँचकर या यों कहिए कि उससे पूरी समता स्थापित कर रसमय हो जाता है। किन्तु फिर भी प्रश्न उठता है कि क्या इस प्रकार के रसज्ञ पूरी मात्रा में मिल सकेंगे, जो कलाकार के साथ अपने मानसिक धरातल को रख सकें? इसका भी उत्तर भवभूति के एक वाक्य में ही दिया जा सकता है। उन्होंने इसी कठिनाई के कारण एक बार कहा था—"कालोह्ययं निरवधिः विपुला च पृथ्वी" अर्थात् काल की अवधि नहीं और पृथ्वी का विस्तार अनन्त है; अतः कोई न कोई समानधर्मी मिल ही जायगा, जो अपने मानसिक धरातल को उतना ही ऊँचा उठाकर रस में प्रवाहित होता दिखाई पड़े।

कला और मनःशक्तियाँ—संस्कृत में बुद्धि-व्यापार की तीन प्रतिक्रियाएँ मानी गयी हैं—ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न। मनोविज्ञान के द्वारा ये तीनों शक्तियाँ अविभिन्न रूप से मिली हुई हैं। किसी की सीमा एक दूसरे से अलग निर्धारित नहीं की जा सकती। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस मानसिक क्रिया को तीन भागों में विभाजित किया है—ज्ञान—(knowing), भावना (feeling) और इच्छा (willing)। दोनों प्रणालियों में केवल इतना ही अन्तर है कि पाश्चात्य विद्वान् जब कि भावना को मानसिक क्रिया का एक अङ्ग मानते हैं, भारतीय विद्वान् प्रयत्न को। कला के मूल में भावना शक्ति का प्राधान्य अवश्य है, पर उसमें ज्ञान और इच्छा की प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित हैं। हालाँकि अभी तक यह एक विवादास्पद विषय रहा है कि पहले इच्छाशक्ति का प्रादुर्भाव हुआ या भावना-शक्ति का (जिस पर पाश्चात्य विद्वान् सदा से झगड़ते रहे हैं), फिर भी इतना तो अवश्य है कि कला का सम्बन्ध मनुष्य की भावना से ही अधिक है, इच्छा से नहीं। आदि काल में जब मनुष्य की परिस्थितियाँ जटिल नहीं रही होंगी, भावना का ही प्राधान्य रहा होगा। किन्तु ज्यों-ज्यों

सामाजिक परिस्थितियाँ जटिलता को प्राप्त होती गयी होंगी, इच्छा दृढ़ होती गयी होगी और भावना-शक्ति पर इसका अत्यधिक नियन्त्रण होता गया होगा। मनुष्य की ज्ञानशक्ति उसकी भावनाओं में चेतनता लाती और इच्छाशक्ति उसको नियंत्रित रखती है। इस प्रकार तीनों के मिले बिना मानव-हितैषी कार्यों का संपादन संभव नहीं। यदि ज्ञान-शक्ति भावना-शक्ति का साथ नहीं देती, तो कलाएँ उस आदि अविकसित स्वरूप से विकसित स्वरूप को प्राप्त नहीं होतीं। और यदि भावनाशक्ति के साथ इच्छाशक्ति का पूर्ण संयोग नहीं होता, तो कला की उच्छृंखलता को रोकना सर्वथा असंभव था। नियंत्रणहीन भावना तो यत्र-तत्र प्रवाहित हो अश्लीलता के रूप में परिणत हो जायगी।

कला और प्रकृति—मनुष्य या कवि वाह्य जगत के संपर्क में प्रकृति का अनुशीलन करता है। जो चीजें उसे अपने सहज सुन्दर गुणों के सहारे आकृष्ट कर लेती हैं, उनका चित्र उसके मानस-पटल पर अंकित हो जाता है और उन्हें वह अपनी अभिव्यंजना का विषय बनाता है। इसी अभिव्यंजना में कला निहित है। प्रकृति की ओर मनुष्य का नैसर्गिक आकर्षण है क्योंकि उससे उसकी वासनाओं को तृप्ति होती है और तब वह इन भावनाओं को रस से सिक्त कर अभिव्यंजित करता है। किसी प्राकृतिक दृश्य को देखकर कलाकार के हृदय में जितनी ही शीघ्रता से भावनाओं का उदय होगा, उतनी ही शीघ्रता और सफलता से वह उन भावनाओं को दूसरे पर आरोपित करने में समर्थ होगा और पाठकवृन्द उसे सुनकर उतनी ही अधिक मात्रा में तृप्त भी होंगे। यहीं कलाकार की सफलता होगी। किन्तु ठीक विपरीत यदि कलाकार इसकी वास्तविकता की छाप पाठक या श्रोता पर डालने में समर्थ नहीं हुआ, तो कलाकार का जीवन अथवा जगत-सम्बन्धी अनुभव सच्चा नहीं हुआ और वह मानव-समाज की परितृप्ति का साधन नहीं हो सका। यहीं कलाकार की असफलता है।

कला और आचार—कला और आचार में भी गूढ़ सम्बन्ध है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य के ज्ञान में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी और वह भले-बुरे को भली प्रकार समझने लगा और इस प्रकार आचार उसके जीवन का एक अङ्ग बन गया। सम्पूर्ण कला और साहित्य में इसी आचार की छाप पड़ी हुई है। इस प्रकार जिस समाज का आचार जितना उन्नत होगा, उसकी कलाकीर्ति उतनी ही उन्नत होगी। फ्रायड महोदय का (जिन्होंने स्वप्न-विज्ञान के निर्माण करने की चेष्टा की है तथा इस सम्बन्ध में सिद्धान्त उपस्थित किया है) कहना है कि कविता और कलाएँ मनुष्य की कल्पना से निस्सृत होती हैं। उनका कहना है कि वास्तविक जगत में समाज आदि बन्धनों के द्वारा मनुष्य अपनी जिन दबी हुई वासनाओं की पूर्त्ति नहीं कर सकता, वे ही भावना के रूप में हमारे सामने आती हैं। शेली की कविताओं, माइकेल ऐंजिलो की कला-सृष्टि तथा शेक्सपियर के काव्यों में भी वे इन्हीं दबी वासनाओं का उद्रेकमात्र बतलाते हैं। किन्तु इस सिद्धान्त से कला का अनिष्ट ही अधिक निकट जँचता है। इससे तो यह प्रमाणित होता है कि कलाकार यदि एक सुन्दर तरुणी का चित्र अंकित करता है, तो वह वास्तविक जगत की अतृप्त वासनाओं की पूर्त्ति चित्रमय जगत में करता है या यदि वह एक साधु का सफल चित्र आँकता है, तो वह पक्का सदाचारी है।

कला और नीति—कला में नीति का स्थान कहाँ तक दिया जाय, दिया जाय या नहीं, इसपर प्लैटो और अरिस्टाटल (Plato and Aristotle) के युग से ही वाद-विवाद होता चला आ रहा है। एक युग था, जब साहित्य एवं कला में जीवन के किसी महत् आदर्श को ही लिया जाता था। फलस्वरूप उस कलाकीर्त्ति में नीति एवं सदुपदेश की प्रधानता हो जाती थी। किन्तु आज जिस द्रुतगति से हमारा जीवन आगे बढ़ रहा है, वह कला में उसी नीति का प्रचार करने में अवश्य ही रोड़े

अटकायेगा। फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि कला से नीति का कोई सम्बन्ध ही नहीं और दोनों ही एक दूसरे से परे हैं। सच बात तो यह है कि कला की परीक्षा इस बात को लेकर नहीं हो सकती कि उनमें किसी नीति का प्रचार हो रहा है अथवा नहीं। श्रेष्ठ कला में सुनीति अथवा दुर्नीति का प्रश्न ही नहीं उठता।

कला का काम है सौंदय की सृष्टि करना; किन्तु वह सौंदर्य-सृष्टि वही हो, जो हमारे विचारों में माधुर्य एवं मर्यादा की वृद्धि करे। केवल सौंदर्य की दृष्टि से ही कला महान् नहीं हो सकती। कलाकार में जितनी ही नैतिकता की प्रबलता होगी, उसकी कलाकीर्ति उतनी ही सुष्ठ एवं सुरुचिपूर्ण होगी। कलाकार जब अपनी कला की सृष्टि करने बैठता है, तब वह अपने मन के गोपन प्रदेश में पोषण किये हुए महत् आदर्श को ही कला का विषय बनाता है। उसके मन में उदार भावनाएँ जाग्रत होती हैं और वह उसे वाह्य रूप देने की चेष्टा करता है। और तब पाठक या श्रोतागणों के हृदय में वह अनुरूप भावनाओं की सृष्टि करता है। फलस्वरूप यदि उसकी कला से पाठकों के मन में अनिर्वचनीय आनन्द, सौन्दर्यानुभूति एवं मनोरम शक्ति की सृष्टि होती है, तो निश्चय ही उसकी कला उच्च कोटि की है। सुनीति या दुर्नीति को परखना तो अब पाठकों पर रह जाता है—चाहे वह उसका जो निचोड़ निकाले। क्योंकि एक ही कलाकीर्ति से विविध पाठकों को विविध रूप से सौंदर्य-बोध हो सकता है। अपनी-अपनी व्यक्तिगत रुचि से एक ही कलाकीर्ति किसी को सुन्दर और किसी को कुत्सित प्रतीत हो सकती है। चित्रकार के एक ही चित्र को देखकर विभिन्न दर्शक विभिन्न मत प्रकट कर सकते हैं, उसकी भिन्न-भिन्न व्याख्या कर सकते हैं।

रस्किन के अनुसार जो कला पाठकों या दर्शकों में जितनी ही अधिक मात्रा में भावों की सृष्टि करने में समर्थ हो सके, श्रेष्ठ है।

इसलिए कला की महत्ता, भावना एवं कल्पना की पूर्णता में है न कि केवल शोभा सौन्दर्य में ।

किन्तु कला में नीति का सुन्दर समन्वय तबतक सम्भव नहीं, जब तक उसमें सत्य का पूर्णतः समावेश नहीं हो । क्योंकि नीति सत्य पर आधारित है। और जब कला में सत्य का समावेश हो जायगा, तो सुन्दरम् आप से आप ही अपना स्थान ग्रहण कर लेगा। सत्य ही सुन्दर है, सुन्दर ही सत्य है। महात्मा गाँधी ने एक बार कला पर अपना विचार प्रकट करते हुए कहा था—"वास्तविक कला वह है, जो मनुष्य को उसके आत्म-स्वरूप की उपलब्धि में सहायता पहुँचावे। आत्मा के समुत्थान में जो बाधा उत्पन्न करे, वह कला न होकर कला के नाम पर भ्रम एवं प्रवंचना है—कपट-जाल है। कला-कृतियों का मूल्यांकन केवल एक ही दृष्टि से हो सकता है और वह है उसके द्वारा आत्मोपलब्धि में हमें कहाँ तक सहायता मिलती है। जब मनुष्य सत्य में सौंदर्य का दर्शन करने लग जायेंगे, तभी वास्तविक कला की सृष्टि होगी।" महात्मा गाँधी के कहने का तात्पर्य यहाँ यह है कि कला की सृष्टि केवल 'कला कला के लिए' नहीं हो। वरन् इसका जीवन से भी पूरा सम्बन्ध हो। जो कला सत्य के सहारे आत्मा के समुत्थान में सहायता नहीं पहुँचा सकी, उसे कला का नाम नहीं दिया जा सकता। किन्तु प्रत्येक सत्य में सौन्दर्य का समन्वय हो सकता है या नहीं, यह कहना दुष्कर है। कलाकार दुर्नीति को भी सत्य से सुगन्धित कर पाठकों या द्रष्टाओं के समक्ष सुनीति के रूप में ही रख सकता है। वेश्यावृत्ति बुरी है। किन्तु कलाकार वेश्यावृत्ति को ही अपनी कला-कृति का विषय बना, उसके घृणित अनाचारों को पाठकों के समक्ष रख सकता है, जो सर्वथा सत्य है। और यदि वह कलाकृति पाठकों के मन में वेश्यावृत्ति के प्रति घृणा उत्पन्न करने में समर्थ होती है, तो वह सुन्दर भी है। कलाकार इसलिए नहीं

दोषी ठहराया जा सकता कि उसने एक घृणित वृत्ति को अपनी कलाकृति का विषय बनाया है। दुर्नीति तो वही है, जो सुनीति है। कलाकार यदि दुर्नीति को केवल मोहक एवं मनोमुग्धकर ढंग से प्रदर्शित करने के ही उद्देश्य से नहीं, वरन् वास्तविक समझकर उसकी सृष्टि करता है, तो निश्चय ही वह दोषी नहीं। प्रेमचंद इसलिए दोषी नहीं कि उन्होंने दालमंडी के घृणित व्यवसाय का वर्णन अपने सेवासदन में किया है। उन्होंने तो वही कहा है जो वास्तविक है, सत्य है। कोई कलाकार यदि अपनी कृति में दुर्नीति का वर्णन करता है और पाठक इससे प्रभावित होता है, तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह पाठक को दुर्नीति सिखाता है वरन् यह है कि वह अन्त में पाठक को यह शिक्षा देना चाहता है कि अमुक कार्य श्रेयष्कर नहीं है और इसके करनेवाले को हानि हो सकती है। पाठक भी यही भावना लेकर पुस्तक समाप्त करता है कि दुर्नीति का परिणाम जीवन के लिए कभी भी श्रेयस्कर नहीं होता।

कलाकार का काम शिक्षा या सुनीति का प्रचार करना भी नहीं है। वह श्लील, अश्लील, सुनीति, कुनीति, किसी का भी पक्ष ग्रहण नहीं करता। वह केवल भावनाओं को सुन्दर ढंग से अपनी कृति में पुष्पमाल की तरह सजाते जाता है। वह पाठकों पर अपनी भावनाओं को लादने का भी प्रयास नहीं करता। यह तो पाठक का कर्त्तव्य है कि अपने सौन्दर्यबोध के अनुसार उससे वस्तु ग्रहण कर ले। वह तो जिस समय कला की सृष्टि करने बैठता है, वासना-गन्ध-हीन होता है। वह सत्य के वास्तविक रूप को देखता है और चित्रित करते जाता है। उस समय उसके द्वारा जिस सौन्दर्य की सृष्टि होती है, उसमें श्लीलता, अश्लीलता का प्रश्न ही नहीं उठता। यह प्रश्न तो तभी उठ सकता है, जब वह व्यक्तिगत कामनाओं से आच्छन्न होकर कला की सृष्टि करता है और वास्तविकता उसके आँख से ओझल हो जाती है। ऐसा ही

कलाकार जीवन के प्रति अन्तर्भेदी दृष्टि तथा सत्यनिष्ठा का निर्वाह न कर आत्मप्रवृत्ति की उद्दामता एवं भोग के मोहक वर्णन में अपनी लम्पटता का परिचय देता है।

कला कला के लिए :—पाश्चात्य विद्वानों का एक दल 'कला कला के लिए' की रट लगाता है। इस सिद्धान्त का जन्म फ्रान्स में हुआ था। इसके कई एक रूप हैं किन्तु सबसे प्रधान रूप यह है कि कला के साथ नीति का समन्वय न किया जाय। कला अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र है। इस पर किसी का आधिपत्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। कलावादी तो जीवन को कला से सर्वथा एक अलग की चीज बताते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक विषय को जिस प्रकार अपने क्षेत्र में स्वराज्य (Autonomy) है, उसी प्रकार कला भी अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र है। विज्ञान में हम सत्य का अनुसन्धान करते हैं और इस सत्य का अनुसन्धान करने के लिए कभी-कभी हमको बड़े ही बीभत्स कार्य करने पड़ते हैं। किन्तु, फिर भी हम बीभत्स कार्य के चलते इस वैज्ञानिक सत्य का बलिदान नहीं करते। गणित शास्त्र में यदि कविता का रस या सौन्दर्य नहीं भी मिलता, तो उसे हम हेय समझकर नहीं त्याग देते। इसमें विद्वानों के विविध मत हैं। आस्कर वाइल्ड (Oscar Wilde) ने अपनी कृतियों में सदाचार की अवहेलना की है। उनका कहना है कि कला और आचार के क्षेत्र पृथक-पृथक हैं। जे० ई० स्पींगन ने इसी बात को जरा हास्यगर्भित भाषा में कहा है—"काव्य में सदाचार ढूँढ़ना व्यभिचार है, ठीक उसी तरह, जिस तरह रेखागणित के समत्रिबाहु त्रिभुज को सदाचारपूर्ण और द्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण कहना!" रवि बाबू इस अनन्त सृष्टि में कला का बिलकुल आनन्ददायक स्वरूप मानते हैं। उनके अनुसार कला स्वयं आनन्द का प्रकाश है। इसमें नीति या सदाचार का स्थान नहीं। इसमें नीति खोजना कला के सौंदर्यमन्दिर को कलुषित

करना है। ए० सी० ब्रैडले (A.C. Bradley) ने अपने लेख (Poetry for Poetry's Sake) 'काव्य के लिए काव्य' में इस पक्ष का समर्थन किया है। इनका कहना है कि कला को सौंदर्य के मापदण्ड से मापना चाहिये, जो आनन्ददायक है तथा जिसकी मूर्त्ति सदा मंगलमय है। क्रोचे (Benedeto Croce) का विचार भी ब्रेडले के विचार से मिलता-जुलता है। यूरोप के अन्य विद्वान जैसे रस्किन, टालस्टाय, आई० ए० रीचार्डस कला को नीति से सम्बन्धित मानते हैं। इनका कथन है कि कला और नीति दो समानान्तर रेखाओं सी चलती हैं। जीवन में वास्तविकता है, कल्पना नहीं। कला या काव्य में कल्पना है किन्तु वास्तविकता की कमी नहीं है। हमारे यहाँ भी एक-न-एक रूप में इसे स्वीकार ही किया गया है। केवल कलावादी बनकर जीवन का उपहास करने में अश्लीलत्व दोष आ ही जाता है। कालिदास को पार्वती-परमेश्वर का शृङ्गार वर्णन करने के कारण कुष्ट हो गया था। साहित्य-दर्पणकार और मम्मट दोनों ने ही कालिदास को इस अनौचित्य का दोषी ठहराया है। अनौचित्य के ही कारण रस का रसाभास हो जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने काव्य को स्वान्तः सुखाय कहा है। "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।" स्वान्तः सुखाय कलावाद का शुद्ध रूप है। तुलसी की कविता यश, मान, धन आदि की प्रतिष्ठा से परे थी, किन्तु फिर भी अपनी कला में नीति का समन्वय करने में ही तुलसी ने अपने मर्यादा-पालन का गौरव समझा था। तुलसी की कविताएँ जीवन की क्षणिकता और भयानकता का परिहार करने के लिए सर्वोत्तम हैं।

उपसंहार:—कला और नीति के समन्वय का प्रश्न बड़ा जटिल है। जो लोग कला को नीति से परे देखना चाहते हैं, वे कला के क्षेत्र में सौन्दर्य का अकंटक साम्राज्य देखना चाहते हैं। किन्तु कला का

क्षेत्र यदि व्यापक माना जाय, तो उसमें सत्यं, शिवं, सुन्दरम् तीनों गुणों का पूर्णतः समन्वय होना अनिवार्य है। केवल सौन्दर्य पर आधारित कला थोड़े समय के लिए आनन्ददायिनी भले हो, किन्तु बाद में वह जीवन के लिए एक हेय वस्तु हो सकती है। अतः इसमें सत्य और शिव रूप का समावेश होना ही चाहिये। क्रोचे केवल आन्तरिक अभिव्यक्ति को ही महत्व देता है किन्तु वाह्य अभिव्यक्ति के समन्वय होने पर ही कला निखरती है। विषय-वस्तु की शोभा सुन्दर शैली के बीच आने पर ही निखरती है।

कवि और उसकी कविता

श्री 'नलिनीमोहन सन्याल' ने कवि की परिभाषा देते हुए कहा है—"कवि वे हैं, जो वृक्षों के प्रशान्त अवयव में, पत्रों की मर्मर ध्वनि में, वायु-कम्पित वनों में, परिवर्तनशील नभमंडल में, वायु-प्रवाह की सनसनी में, तारका-राजि की दीप्ति में, मेघों के गम्भीर गर्जन में, जलधि के अविराम नर्तनों में, बेला-भूमि के असंख्य बालुकणों में सजीवता का अनुभव और प्रकृति के रहस्यों की उपलब्धि करते हैं। कवि में कल्पना-शक्ति प्रबल रहने के कारण वह अपनी अनुभूतियों को प्रकृति के सत वस्तुओं में आरोपित करता हुआ पशु-पक्षियों की बोलियों को समझता है, लता-पादपों के अन्तर की वेदनाओं का अनुभव करता है, एक-एक क्षुद्र बालुकण में असीम विश्व की उपलब्धि करता है, मेघ या हंस को दूत बनाकर नायक की प्रियतमा के पास सन्देश भेजता है, खिले हुए फूलों को हँसता पाता है।" यह उक्ति सर्वथा ठीक है। वेदों में भी कवि को मनीषी और स्वयंभू का प्रतिनिधि कहा गया है। कवि इहलौकिक और पारलौकिक, दोनों ही समस्या पर समान रूप से विचार करता है। उसका स्तर आम जनता के स्तर से अवश्य ही ऊँचा है। क्योंकि वह प्रत्येक लौकिक वस्तु

में लौकिकता न अनुभव कर एक विलक्षणता का अनुभव करता है। यही अनुभूति उसे आन्तरिक प्रेरणा देती है और उसके भाव काव्य के रूप में उद्‌भूत होते हैं। इसीलिये कहा गया है कि कवि का स्थान अंन्तर्जगत् में है। हृदय तथा मन को लेकर ही इसका कारोबार है। शरीर से इसका सम्बन्ध नहीं।

किन्तु इसपर एक प्रश्न उठ सकता है कि क्या यह कवि-भावना प्रत्येक मनुष्य में पायी जाती है? सन्यालजी इसका उत्तर यों देते हैं—"जैसे सब शुक्तियों में मुक्ता नहीं रहता, किन्तु मुक्ता शुक्ति के भीतर ही उत्पन्न होता है, इस कारण अनुमान किया जा सकता है कि जिन शुक्तियों में मुक्ता नहीं पाया जाता, उनमें मुक्ता उत्पन्न होने की सम्भावना थी, पर किसी अज्ञात प्रतिकूल कारणवश उत्पत्ति का निरोध हो गया है, उसी प्रकार तथाकथित अकवि लोगों का अन्तर विश्व-कवि के संयोग से सम्पूर्ण वंचित प्रतीयमान होने पर भी अनुमान किया जा सकता है कि अनुकूल अवस्था में उसमें कवित्वशक्ति का स्फुरण असम्भव न था।"

कवि निष्क्रिय और सचेतन होता है। वह परिस्थिति के अनुकूल वातावरण बनाकर अपने को उसी साँचे में ढाल लेता है। क्षेत्रलाल साहा अपनी 'वेज ऑफ म्यूज' (The Ways of Muse) में लिखते हैं—"The poet is the most sensitive and impressionable of all human beings. His mind is fully responsible to the multifarious calls of universal nature to which the majority of mankind are dead. None can love more than the poet. His love is like a cool, clear, deep and perennial stream in which all can bathe or swim or sink. He loves men and women, young and old; he is an affe-

ctionate friend of beasts and birds and flies and insects; he is fond of plants and trees and creepers... There is none so unselfish as poet." अर्थात् कवि मनुष्य में सबसे निष्क्रिय और प्रभावग्राही है। उसका मस्तिष्क असीम प्रकृति की विविध पुकारों के लिए उत्तरदायी है, जो अधिकांश मनुष्य के लिए मृतप्राय है। कवि से अधिक कोई प्रेम नहीं कर सकता। उसका प्रेम ठण्डे, स्वच्छ और गहरे बारहमासी झरने के सदृश है, जिसमें सभी स्नान कर सकते, तैर सकते और डुबकी लगा सकते हैं। वह तरुण, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, सभी से प्रेम करता है। वह पशु, पक्षी तथा कीड़े-मकोड़े का भी प्रिय मित्र है। वह पेड़ पौधे तथा लताओं में भी अनुरक्त रहता है·········कवि के सदृश कोई निःस्वार्थ नहीं।

किन्तु इतना ही नहीं—"He is an active agent too. He not only receives impressions but moulds them into forms to suit his ideals. He assumes selves other than his own, it is true but on the other hand, he impresses his own self on other things and shapes them into the like of his own." अर्थात् वह एक क्रियाशील निर्माता है। वह केवल अनुभूति प्राप्त नहीं करता वरन् अपनी अनुभूति को एक ऐसे साँचे में ढाल देता है, जहाँ उसकी कल्पना एक निश्चित स्वरूप प्राप्त कर लेती है। यह सत्य है कि वह अपने अतिरिक्त सबों की कल्पना कर लेता है, किन्तु यह भी सत्य है कि दूसरी ओर वह अपना प्रभाव विभिन्न वस्तुओं पर डाले बिना नहीं रहता और उन्हें अपने इच्छित वायुमण्डल में विचरने के लिए कहता है।

कवि मिश्रित आचरणों का व्यक्ति है। वह केवल कल्पित कविता ही नहीं करता, वरन् स्वयं एक कल्पित कविता है। वह कल्पनाजगत

का स्वप्न देखने के साथ-साथ आदर्शवादी भी है। वह एक निःस्वार्थ प्रेमी और आत्म-केन्द्रित अहंवादी है। उसका निवासस्थान अन्तर्जगत में है। उसे आनन्द के सिवा कुछ नहीं चाहिए। वह एक आधिदैविक आदर्श है।

कवि की कृति ही काव्य है। वड्र्सवर्थ ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है—"कविता है प्रबल आवेगों का अयत्नसम्भूत आप्लावन, जिसका स्मरण मन की शान्ति के समय होता है।" इस परिभाषा को मान लेने से कविता में आवेग ही प्रधान रहता है, जिसके प्रभाव से कवि कविता लिखने को उद्यत होता है। किन्तु, यदि सच पूछा जाय, तो आवेग की कोई स्वाधीन सत्ता नहीं। कवि जब वर्तमान या अतीत के भावों से प्रेरित होता है, तभी उसकी कल्पनाशक्ति कविता के रूप में उद्भूत होती है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि कवि में आवेग की प्राणस्पर्शिता और कल्पना की अबाध गति रहती है, किन्तु साथ ही साथ यह भी मानना पड़ता है कि कवि में करुणा, क्रोध, आश्चर्य, आशा इत्यादि के तीव्र भाव रहते हैं। समय-समय पर कवि इन भावों से ऐसा उत्तेजित हो जाता है कि वह अपने भावों को एकाकार कर देता है और साथ-ही-साथ इसे दूसरों के मन में सञ्चार करता है। अतः यह स्पष्ट है कि कविता में केवल आवेगों का अयत्न-सम्भूत आप्लावन ही नहीं, वरन् प्रकृति तथा मानव-जीवन की गम्भीर अभिव्यक्ति है।

अब प्रश्न यह उठता है कि कविता में मानव-जीवन तथा प्रकृत जीवन की गम्भीर अभिव्यक्ति रहना क्यों आवश्यक है? इसका उत्तर शायद यों दिया जाय, तो अच्छा है। मानव-जीवन की अभिव्यक्ति काव्य में इसलिये आवश्यक है कि आदिकाल से ही उन भावनाओं में पलते-पलते मनुष्य ने इसे अपनी अर्जित सम्पत्ति बना ली है और अधिकांश कविताएँ प्रकृति से ही नियंत्रित होती

आयी हैं। प्रकृति परमात्मा का रूप है। जीव भी उसी आत्मा का स्वरूप है। जीव प्रकृति की गोद में सदा लालित होता आया है। अतः मा प्रकृति के प्रति जीव-रूपी पुत्र की आस्था होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि प्रकृति सतत काव्य का एक विषय रही है। कुछ लोगों के अनुसार तो कविता प्रकृति के रहस्यों तथा मानव-जीवन की वेदनाओं का ही वर्णन है। यद्यपि इस परिभाषा के प्रति लोग उदासीनता दिखाने लगे हैं तथा आवेग की प्राणस्पर्शिता और कल्पना की अबाध-गति की ओर दौड़ने लगे हैं; फिर भी कविता की यह सहज सुन्दर परिभाषा त्यागी नहीं जा सकती।

सच पूछा जाय, तो कविता मानव-जीवन की वेदनाओं तथा प्रकृति के रहस्यों से ही उद्भूत होती है। प्रशान्त झरने, निश्चल पेड़, नदी, नाले, पशु, पक्षी, हरित कुञ्ज, वायु-विकंपित लता आदि ही इसके रहस्य हैं और विभिन्न सांसारिक यातनाओं से ही वेदनाएँ उत्पन्न होती हैं। इन यातनाओं में पड़कर मनुष्य स्वभावतः इन सभी प्राकृतिक उपकरणों को अपने अनुकूल या प्रतिकूल पाता है और इन्हें अपने भावों में बहा लेता है। आज की कविताओं में (तात्पर्य छायावाद और प्रगतिवाद की कविताओं से है) आवेग और कल्पना का प्राधान्य है। यही कारण है कि ये कविताएँ मानव-जीवन को छूती दृष्टिगोचर नहीं होतीं, किन्तु सूरदास का मातृ-प्रेम, गोपीविरह और भ्रमरगीत आदि में मानव-जीवन का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। जायसी ने भी प्रकृति के नाना रूपों के साथ जीवन की समता दिखायी है तथा मानव-जीवन के हर्ष-विषाद की छवि सफलता से अंकित की है। यही गुण तुलसी की कविताओं में भी है। इनके काव्यों में तो मानव-जीवन के इतने गहरे सत्य भरे हैं कि उनकी किसी प्रकार भी अवहेलना नहीं की जा सकती। अंग्रेजी का जगत्-प्रसिद्ध महाकवि शेक्सपियर भी

जीवन के घात-प्रतिघातों को लेकर ही अपना कथानक आगे बढ़ाता है।

कविता 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की समष्टि भी है। क्योंकि कविता का धर्म आनन्द देकर हृदय उत्तेजित करना है। मनुष्य-जीवन को किस प्रकार आनन्द-प्रदान किया जाय, यही समस्या कविता सुलझाती है। यही आनन्द का अत्यधिक स्वरूप सौन्दर्य के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

कवि मनुष्यों को आकर्षित करने के लिए अलंकारों का भी प्रयोग करता है। अलंकार से भाव गम्भीर हो जाते हैं। इनका प्रयोग करना कवियों के लिए इसलिए आवश्यक हो जाता है कि साधारण शब्द इनके गम्भीर भावों को वहन नहीं कर सकते। छन्द की भी यही हालत है। छन्द कवि के अन्तर्नाद का वाह्य स्वरूप है। इसलिए छन्द का प्रयोग भी कवि की प्रतिभा का परिचायक ही है, वाधक नहीं। कवि छन्दों को अपनी इच्छानुसार प्रयोग करता है। उसकी अन्तरात्मा अलंकार की भित्ति से टकरा इसी छन्द में प्रतिध्वनित होती है। वास्तव में "कविता संगीतमय विचार है और कवि वह है, जो संगीतमय ढंग से विचार कर सकता है।"

साधारणतया कवियों की दो श्रेणियाँ होती हैं। एक निर्मित कवि (made poets) और दूसरे जन्मजात कवि (born poets)। पहली श्रेणी के कवि अभ्यास-द्वारा कविता सीखते हैं। वे अपने भावों को पहले गद्य में व्यक्त कर लेते हैं और पुनः उसे पद्य में रूपान्तरित करते हैं। किन्तु सहज कवि में रस का अतिरेक होता है। वह अपने प्रत्येक विषय को कविता में ही देखता है। वह विचारों को गौण स्थान देता है। अलंकार भी उसमें जटिलता से प्रवेश नहीं पाते, भले ही वे स्वयं निर्णीत हो जायँ। उसकी कल्पना केवल अनुभूति के सहारे आगे बढ़ती है। अतः विचारों की प्रधानता से ही कवि श्रेष्ठ नहीं होता, वरन्

जब उसकी अनुभूति अप्रतिहत गति से प्रवाहित होने लगती है, तभी वह सच्चा कवि होता है। यह अनुभूति रस से परिपुष्ट होती है और आनन्द का संचार करती है।

मौलिकता कवियों का सर्वश्रेष्ठ गुण है। यह कवियों की महत्ता का मापदण्ड है। कवि मानव-समाज में रहता है। वह उससे एक अनुभूति ग्रहण करता है, जो विलक्षणता लिये होती है। मानव-समाज इस विलक्षणता का अनुभव नहीं करता। दोनों ही एक वस्तु को देखते हैं। मानव समाज उसके सहज गुणों को ही लक्ष करता है और कवि-समाज उसके विलक्षण गुणों को। किन्तु मौलिकता का तात्पर्य यह नहीं कि कथानक ही बदल दिये जायँ। तात्पर्य यह कि एक कथानक को विविध कवि या लेखक प्रयोग में ला सकते हैं। रामचरितमानस के कथानक को ही लेकर कितने महाकवि हो गये। इस कथानक को तो जिसने छूआ, सोना हो गया। वास्तव में वह है भी पारस। तुलसीदासजी ने स्वयं स्वीकार किया है—"नाना पुरान निगमागम-सम्मतं।" शायद यह अत्युक्ति न होगी, यदि कहा जाय कि सभी महाकवियों ने अपनी भावसम्पत्ति संसार से ही इकट्ठी की है। यदि तुलसीदास का एक तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि इनके एक-एक भाव कहीं-न-कहीं से चुन लिये गये हैं। किन्तु मौलिकता तो इसमें है कि ये भाव कितनी सफलता से एक में पिरोये गये हैं। माली विविध पुष्पों को विविध डालियों से चुनता है किन्तु एक में पिरोये जाने पर वह अपना एक अलग अस्तित्व बना लेता है, जिसे माला कहते हैं। माली जिस प्रकार इस माला के गूँथने में मौलिक है, कवि भी उसी प्रकार अपने भावों और विचारों को पिरोने में। रामचरितमानस पर वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, वशिष्ट रामायण, पुलस्त्य रामायण, हनुमान रामायण इत्यादि की स्पष्ट छाप है। कालिदास पर अश्वघोष की छाप स्पष्ट रूप से लक्षित होती है और यदि अश्वघोष के भी परवर्ती

कवि कोई मिले, तो यह प्रमाणित करने में आसानी होगी कि वे भी किसी न किसी से प्रभावित हैं।

इस प्रकार थोड़े में—"कविता एक ऐसा आदर्श है, जो विकृत को भी सुन्दर और सुन्दर को सुन्दरतर बना देती है। कविता संसार के ज्ञान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व है, अथवा, यों कहिए कि कविता प्रथम और अन्तिम ज्ञान है। अतएव कविता लोकोत्तर सौंदर्य से कल्पना को विभूषित ही नहीं करती, वरन् संसार के दुखों से निवृति देकर एक भावना बन जाती है, जो मानव-जीवन की नैतिकता को व्यक्त करती है और ऐसे सत्य एवं पवित्र जीवन की ओर आकर्षित करती है, जो व्यावहारिक जीवन का आदर्श है। *

---

* साहित्य-शिक्षा—पृष्ठ ७६

काव्य में रमणीयता और सौन्दर्य

विविध ग्रन्थों ने काव्य की विविध परिभाषा की है। 'काव्य प्रकाश' ने केवल इतना ही लिख छोड़ा है कि 'तददोषौ शब्दार्थो सगुणवान अलंकृति पुन: क्वापि' अर्थात् जो रचना दोषरहित, गुणसहित विविध अलंकारों से विभूषित हो, वह काव्य है किन्तु इससे काव्य का प्रयोजन नहीं सधता। शब्द और अर्थ तो दोनों एक दूसरे पर निर्धारित हैं। बिना अर्थ के शब्द नहीं हो सकता और बिना शब्द के अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। फिर यह काव्य की परिभाषा नहीं हुई वरन् इसके प्रमुख अवयवों से युक्त इसका स्थूल स्वरूप हो गया। किन्तु यदि इन्हीं दो प्रधान अवयवों से बने वाक्य के पहले एक रसमय शब्द जोड़कर कहें कि रसमय वाक्य ही काव्य है, तो यह काव्य के स्थूल रूप के सिवा इसके भीतरी तत्व का भी बोधक होगा। साहित्य-दर्पण का 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' का सिद्धान्त इसी पर आधारित है। अब यदि इसको हम व्यापक अर्थ में प्रयोग करें, तो कह सकते हैं कि रस साहित्य अथवा नाटक के पठन-श्रवण-दर्शन जनित आनन्द का वाचक है और विविध भावनाओं के आस्वादन का बोध कराता है। अत: रस में रमणीयता है। रस-गंगाधर के अनुसार 'रमणीयार्थ प्रतिपादक:, शब्द:

काव्यम्'—रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द ही काव्य है। इसमें काव्य का रस-सम्बन्धी तत्व रमणीय शब्द से व्यक्त कर दिया गया। काव्य में रस है। काव्य में रमणीयता है। रस रमणीय है। मन को रमाने की क्षमता काव्यों में ही है। काव्य का वास्तविक अर्थ निकलता है रसमग्न होने से। अतः काव्य का स्वरूप ठहरता है भावों का विधान करके रसमग्न करनेवाली रचना अथवा थोड़े में रमणीयता।

'कवि लोक का अनुशीलन करते हुए उनकी विभूतियों से प्रभावित होता है और उसमें छिपी हुई शक्ति प्रस्फुटित होती है। लोकजीवन से प्राप्त कवि की अनुभूति तीन गुणों से विशिष्ट होती है—सत्यता, शिवता और सुन्दरता। सत्यता अनुभूति का वह गुण है, जो उसकी सत्ता को प्रमाणित करता है, शिवता उपयोगिता को और सुन्दरता आकर्षण को। सत्यता और शिवता काव्य के आभ्यन्तर गुण हैं, सुन्दरता वाह्य। कवि इन्हीं वाह्य गुणों से प्रभावित है। पाठक के आकर्षण का कारण यही वाह्य-गुण है और इस तरह सौन्दर्य ही काव्य की प्रमुख चीज होती है। सत्यता और शिवता सौन्दर्य के पीठमद भले हों, किन्तु सौन्दर्य ही प्रत्यक्ष है। पाश्चात्य विद्वानों ने, पाठकों को जो अनुभूति काव्यों से उत्पन्न होती है, उसे सौंदर्यानुभूति कहा है। किन्तु यदि सौन्दर्यानुभूति ही काव्य की आत्मा मान ली जाय, तो यह और कलाओं की ही कोटि में आ जायगी। इसकी उत्कृष्टता का दिग्दर्शन करानेवाली कोई चीज नहीं रह जायगी।

और कलाओं में सौन्दर्य ही प्रधान हुआ करता है। वास्तुकला की कोई कीर्ति देखकर उसके सौन्दर्य की प्रशंसा की जाती है, किन्तु उससे उत्पन्न भावों में मग्न नहीं हुआ जाता। मूर्तिकला में भी मूर्तिकार की प्रशंसा अवश्य की जाती है, किन्तु उससे उपजे भावों में मग्न नहीं हुआ जाता। इस तरह इन कलाओं में वाह्य

सौन्दर्य का आधिक्य और स्थायित्व तथा रमणीयता का सर्वथा अभाव रहता है। चित्र-कला और संगीत-कला में भी यही बात है। संगीत-कला में से यदि काव्य-कला निकाल लें, तो यह शुद्ध गलेबाजी के सिवा और कुछ नहीं रह जायगी। संगीतकला तो अपना अस्तित्व प्रदर्शित करने के लिए काव्यकला का सहारा लेती है, तभी इसमें रमणीयता आती है। अतः काव्य-कला के सिवा अन्य कलाओं से श्रोताओं को सौंदर्यानुभूति होती है, रसानुभूति नहीं। वे चीजों के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं, किन्तु भावों में रमते नहीं। काव्य-कला उत्कृष्ट इसलिए है कि पहले उसमें सौन्दर्यानुभूति होती है। सौन्दर्य से वह आकृष्ट होकर ही नहीं रह जाता प्रत्युत उन भावों में रमता ही चलता है, जो उसमें व्यक्त किए रहते है। इसीलिए साहित्यदर्पण के सिद्धान्त 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' को समीक्षकों ने ठीक माना है। इसी को 'रस गंगाधर' ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' कहकर और भी स्पष्ट कर दिया है। अतः काव्य की सर्वप्रधान विशेषता रमणीयता है, श्लाघनीयता नहीं। काव्य को केवल सुन्दर कह देने से उसके महत्त्व में बहुत-कुछ कमी आ जाती है।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ललित-कला में सौन्दर्य प्रधान है। काव्य-कला ललित-कला के अन्तर्गत है। अतः काव्य-कला में भी सौन्दर्य ही प्रधान है। यही कारण है कि वे काव्य-कला में रसानुभूति की अपेक्षा सौन्दर्यानुभूति ही अधिक पाते हैं।

सौन्दर्य की विविध परिभाषाएँ दी गयी हैं किन्तु, सभी विवादास्पद हैं। कोई व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में विविध वस्तुओं से साक्षात्कार करता है किन्तु उन सभी वस्तुओं से चिर-परिचित रहने पर भी अपरिचित-सा ही रहता है। उनका वास्तविक रहस्य उस पर प्रकट नहीं होता और पूछने पर वह उसका उत्तर एक रहस्यपूर्ण मौन से देता है। यही हालत सौन्दर्य की है। प्रतिदिन सुन्दर शब्दों का हजारों

बार प्रयोग करने पर भी अधिकांश लोग इसकी परिभाषा से अवगत नहीं हो पाते। उपर्युक्त वस्तु की तरह सौन्दर्य भी उनके लिए रहस्यमय ही बना रहता है। विद्वानों में भी "मुण्डे मुन्डे मतिभिन्ना" का ही परिचय मिलता है। यदि एक के अनुसार सौन्दर्य में आनन्ददायिनी शक्ति है, तो दूसरा सुन्दर वस्तु के दर्शन-मात्र से ही आनन्द प्राप्त करता है और तीसरा अपनी डफली अलग ले सौन्दर्य में निस्पृह आनन्द की प्राप्ति चाहता है। कविवर कीट्स के दृष्टिकोण से सत्य और सुन्दर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सत्य ही सुन्दर है और सौन्दर्य ही सत्य है। प्रसिद्ध विद्वान् क्रोचे ने सौन्दर्य का विलक्षण ही अर्थ लगाया है। उनके अनुसार कोई भी वास्तविक वस्तु अर्थात् काव्य की वर्ण्य वस्तु सुन्दर नहीं। सौन्दर्य अभिव्यंजना में है। हम उन्हीं चीजों को सुन्दर कहते हैं, जिन्हें लोग आदि से सुन्दर कहते आये हैं। सुन्दर कहना हमारा संस्कार हो गया है। किन्तु यदि सचमुच क्रोचे की यह उक्ति सत्य होती, तो साधु-महात्मा, जो इन संस्कारों से विरक्त-से हैं, इन चीजों को सुन्दर नहीं कहते। किन्तु ऐसा नहीं। अतः सुन्दरता और कुरूपता वस्तु का धर्म है, हृदय की संस्कारजन्य वृत्ति नहीं। कुछ लोगों के अनुसार सौन्दर्य व्यक्तिगत चीज है, लोकगत नहीं। एक ही चीज किसी को सुन्दर और किसी को असुन्दर प्रतीत हो सकती है। एक सज्जन एक स्त्री से प्रेम करते थे, जिसके दो दाँत बाहर निकले हुए थे। पूछा—"महाशय! इस स्त्री में कौन-सी ऐसी विलक्षणता है, जो आप इस पर लट्टू हुए रहते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया—"काश, आप मेरी आँखों से देखते, तो ऐसा प्रश्न न करते।" और तब मैं इसी सिद्धान्त पर आया कि "भिन्न रुचिर्हि लोकः।" किन्तु भिन्न-भिन्न रुचि होते हुए भी विचारों में एकता अधिक है। एक पुरुष से दूसरे पुरुष की आकृति में समानता अधिक है। एक कृश-शरीर युवक, जिसकी गाल चिपटी हो, आँखें धँसी हों, किसी को सुन्दर लगे, किन्तु वह सबों

के लिए सुन्दर नहीं हो सकता, वरन् एक हास्य का विषय बन जायगा। अतः सौंदर्य एक सामान्य आधार है। ठीक यही बात काव्य में है। उपर्युक्त युवक को आलंबन बनाकर यदि कवि काव्य-रचना करने चले, तो उसमें रमणीयता और सुन्दरता नहीं आयगी और कविता असफल रहेगी। अतः कुछ दूर में, लोक में, व्यक्तिगत रूप में दिखाई देने पर भी सौन्दर्य कोई व्यक्तिगत चीज नहीं। अमुक कवि को एक नायिका पसन्द है, जो देखने में युवती की अपेक्षा दादी ही से अधिक समता रखती है। ऐसी नायिका को आलंबन बनाकर की गयी कविता कवि को आनन्ददायिनी भले ही हो, किन्तु लोगों के लिए घृणास्पद वस्तु हो जायगी। अतः यह मानना पड़ेगा कि काव्य और लोक-जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। काव्य की रमणीयता का निर्माण व्यक्तिगत रुचि पर नहीं, सर्वसामान्य की अभिरुचि पर है।

काव्य पढ़ते समय पाठक दो स्थितियों से संचरण करता है। पहले में वह भाव-मग्न होता है और दूसरे में पहुँचकर काव्य की प्रशस्ति गाता है। काव्य पढ़ते समय जो भाव पाठक के मन में उत्पन्न होते हैं, वे ही भाव कविता करते समय कवि के हृदय में उत्पन्न हुए होंगे। दृश्य जगत् से अनुभूति ग्रहण कर करुणा से आर्द्र हो कवि करुणा-रस की सृष्टि करता है और पाठक पात्रों के साथ तादात्म्य का अनुभव कर रो उठता है। यदि यह केवल सौंदर्यानुभूति है, तो पाठक के रोने का कोई महत्त्व नहीं। शायद यही रसानुभूति है। यही रमणीयता है।

काव्य और जीवन

कवि मनीषी है। स्वयम्भू का प्रतिनिधि है। वह इहलौकिक और पारलौकिक, दोनों ही समस्या पर समान रूप से विचार करता है। वह प्रत्येक लौकिक वस्तु में एक विलक्षणता का अनुभव करता है। यही अनुभूति उसे आन्तरिक प्रेरणा देती है और उसके भाव काव्य के रूपों में उद्भूत होते हैं। "कवेः हृदय भावों कर्म वा काव्यः।"

कवि के भावों में किन-किन चीजों का समन्वय होना चाहिये, यह अभी तक विवादास्पद रहा है और रहेगा भी। किन्तु जीवन की क्षणिकता और भयानकता का परिहार करने के लिए काव्य में आनन्द का होना तो आवश्यक है। प्रश्न है, यह आनन्द किस कोटि का हो ? क्या यह आनन्द केवल आनन्द ही के लिए रहे या इसका हमारे जीवन के साथ कोई समन्वय भी हो ? पश्चिमीय समीक्षकों का एक दल, जो "कला कला के लिए" के सिद्धान्तों को मानता है, उपयोगिता को काव्य-सौन्दर्य के लिए घातक मानता है। उनकी राय में सौन्दर्य की चरम प्रतिष्ठा ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ गुण है। यदि इस सिद्धान्त को स्थिरता दे दी जाय, तो यह मानना होगा कि

काव्य में सौन्दर्य है और चूँकि सौन्दर्य सदा आनन्ददायक है, इसलिये इससे किसी का अहित नहीं हो सकता। किन्तु यदि मानव-प्रवृत्ति से सम्बन्धित सौन्दय को काव्य में स्थान न देकर काल्पनिक सौन्दर्य को स्थान दें, तो शायद उससे लाभ के बदले हानि ही होगी। अत: हमें काव्य में सुन्दरता के साथ-साथ कल्याण-भावना भी देखनी होगी। इसे केवल मनबहलाव की सामग्री न समझ, उद्देश्यमूलक समझना होगा। कविता में लोक-हित की भावना का लोप होना तो हमें नरक तक पहुँचा सकता है। क्योंकि काव्य श्रवण-सुखद है और सुगमता से स्मरण होने के कारण मानव-जीवन में प्रतिष्ठा पाता है। यह हमारे सामने एक मिसाल के रूप में रह जाता है, जो मानव-जीवन को समय-समय पर अग्रसर करने में सहायक होता है। तुलसीदास का काव्य हमारे जीवन का सच्चा सहायक है। इनके काव्य में आदर्श और व्यावहारिक जीवन के दोनों पक्षों में समन्वय पूर्ण रूपसे हुआ है। तुलसी की परिस्थिति ऐसी थी कि लोक-मर्यादा को कायम रखने तथा हिन्दू-धर्म का अस्तित्व बचाने के लिए समाज के सामने आदर्श उपस्थित करना आवश्यक था। इनके काव्य का यही शिवरूप—लोकहित-भावना आज भी आदरणीय है।

जीवन में सुखों की अपेक्षा दुखों का आधिक्य है। चारों ओर दु:खमय तथा निराशा का वातावरण रहने से यह मानव-जीवन भार-स्वरूप हो जायगा, उल्लास और आनन्दहीन होने से एक विरक्ति का भाव आ जायगा, जो आलस्य और अकर्मण्यता का जन्मदाता होगा। यही समाज और राष्ट्र का सब से बड़ा अभिशाप है। प्राचीन कवियों ने जिस काव्य की सृष्टि की, वह सौंदर्य और आनन्द से परिपूर्ण है। जीवन की कठिनाइयों का निदर्शन कराते हुए भी उन्होंने उससे बचने का स्वस्थ साधन उपस्थित किया है। जीवन की

विरक्ति और उदासीनता की अपेक्षा जीवन की आसक्ति और आस्था तथा आनन्द का ही समावेश काव्यों में होना चाहिये ताकि मनुष्य इसके अध्ययन से जीवन की सारी अपूर्णताओं को पूर्णता प्रदान करे और निराशा तथा नश्वरता के भाव को जीतकर प्रसन्नता से जीवनपथ पर अग्रसर हो सके।

मैं उपर कह आया हूँ कि कवि मनीषी है, स्वयंभू का अवतार है। कविता उसके अन्तर की उपज है, जो सत्य के निकटस्थ है। अतः काव्य की पूर्णता सुन्दरता से ही नहीं, वरन् शिव और सत्य से भी है। केवल शब्द-जाल बिछाने तथा तुक मिलाने से ही कविता का उद्देश्य नहीं पूर्ण होता। कविता का उद्देश्य संसार को एक संदेश देने का है, जिसे पढ़कर लोग एकान्त में प्रसन्नता, भय में धैर्य, निराशा में आशा धारण करें और इससे जीवन-युद्ध में प्रसन्नता प्राप्त कर सुखी और प्रसन्न हों।

पाश्चात्य समीक्षक काव्य को जीवन की व्याख्या मानते आये हैं। किन्तु यह व्याख्या हो या अनुवाद, इससे बहस नहीं। हमें केवल यह देखना है कि काव्य में जो जीवन चित्रित किया जाता है, वह किस रूप में। प्राकृत जीवन की सत्ता काव्य में केवल प्रभाव के रूप में प्रकट होती है। जो जीवन जितना ही प्रभावोत्पादक होता है, काव्य में उसे उतना ही सुन्दर स्थान मिलता है। इसके विपरीत यदि हम काव्य में जीवन की सत्ता का प्रभाव न मानें, तो हमें व्यक्ति के अंग-प्रत्यंग नख-शिख वर्णन से ही काव्य में जीवन का पूर्ण विधान मान लेना पड़ेगा। किन्तु अंग-प्रत्यंग के वर्णन से शरीर के स्वरूप का ही बोध हो सकता है, जीवन का तात्पर्य नहीं पूरा होता। अमुक की आँखें गुलनार हैं, मूँछें घनी हैं, भौहें तनी हुई हैं, शरीर के प्रत्येक अंग के विश्लेषण मात्र हैं। किन्तु जब हम यह कहने को वाध्य होते हैं कि अमुक आदमी उदार या कृपण है, सदाचारी या दुराचारी है, तब

हमारे चित्त पर उसकी सत्ता का प्रभाव समझना चाहिये। कवि या लेखक किसी के शरीर को अपने हृदय में प्रवेशमार्ग नहीं दे सकता और जब तक उसके हृदय से सम्पर्क स्थापित न हो, तब तक काव्य में उसका विधान असंभव है। यही कारण है कि किसी की सत्ता के प्रभाव को ही कवि अपने हृदय में लेता है और उसे अपना आन्तरिक योग दे काव्य का मार्मिक विषय बनाता है।

किन्तु यदि हम काव्य को जीवन से अलग करना चाहें, तो यह उतना ही असंभव होगा, जितना छाया को शरीर से। जीवन के विभिन्न उपादान ही तो काव्य के विषय बनते हैं। दोनों में कहीं विभाजक रेखा नहीं। काव्य यदि अन्तर है, तो जीवन वाह्य। वाह्य का अस्तित्व अन्तर में विलीन होता है और अंतर का निर्माण वाह्य के माध्यम से ही हुआ है। हमारे अंतर्जगत् की सभी भावनाएँ वाह्य जगत् की प्रेरणा के फलस्वरूप बनी हुई हैं। इस प्रकार काव्य और जीवन में किसी प्रकार विच्छेद की संभावना नहीं। जीवन साकार है। रूप आकार को स्पर्श करता है। काव्य निराकार है। हृदय को स्पर्श करता है। इसमें कवि की व्यक्तिगत साधना सहायक होती है। वह अपनी अर्जित अनुभूतियों को, जो अमूर्त्त रहती हैं, मूर्त्त स्वरूप देना चाहता है और तब कवि का कुछ-न-कुछ उद्देश्य उसके पीछे रहता है और रहना भी चाहिए। काव्य का महत्त्व इसी अभिव्यक्ति के उद्देश्य में छिपा रहता है।

रस-सिद्धांत

महाकवि 'हरिऔध' लिखते हैं—"स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के सहित चमत्कृत होकर मनुष्यों के हृदय में अलौकिक और विलक्षण आनन्द का स्वरूप धारण करता है, तब वह रस कहलाता है।" आज यह परिभाषा भले ही मान्य हो, पर पहले इस पर सदा वाद-विवाद होता आया है। नाट्यशास्त्रकार महामुनि भरत ने इसे अपने ही शब्दों में कहा था—विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्र सनिष्पत्तिः" अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है। काव्य-प्रकाश इसकी टीका यों करता है :—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च,
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि ये नाट्य काव्ययोः
विभाव, अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः,
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यै स्थायी भावो रसःस्मृतः

लोक में रति आदि स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे ही नाटक और काव्य में क्रम से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी कहलाते हैं। इन्हीं तीनों की सहायता से व्यक्त स्थायी भाव की रस संज्ञा होती है।

किन्तु इन परिभाषाओं के समझने के पहले स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव को समझना आवश्यक है। मन में जो विकार उत्पन्न होते हैं, वे भाव कहलाते हैं (विकारो मनसो भावः) और जो आदि से अन्त तक वर्तमान रहे, वह स्थायी भाव कहलाता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में और बहुत-से भाव उठते और विलीन होते हैं, किन्तु एक रति का भाव आदि से अन्त तक व्याप्त है। यही स्थायी भाव है—रस का मूल स्रोत। इसके ठीक विपरीत जो छोटी-छोटी तरंगों की भाँति उठकर थोड़े ही समय में विलीन हो जाते हैं, रस का पूर्ण आस्वादन होने तक मन में नहीं ठहरते, उन्हें संचारी भाव कहते हैं। एक स्थायी भाव के साथ कई संचारी भाव हो सकते हैं और एक संचारी कई रसों में संचरण कर सकता है। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—"स्थिरतया वर्तमानेहि रत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भावतिरोभावाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिताः कथ्यन्ते।" अर्थात् रति आदि स्थायी भाव में संचरण कर जो निर्वेद आदि भाव अनुकूलता से व्याप्त रहते हैं, उन्हें विशेष रीति से संचरण करते देखकर संचारी कहा जाता है। प्राचीन ऋषियों ने तैंतीस संचारी भावों की गणना की है और पीछे के आचार्यों ने भी इसीकी पुष्टि की है, किन्तु इन तैंतीस के अतिरिक्त और भी संचारी भाव ढूँढ़े जा सकते हैं, यदि नये संचारी भावों को पुराने संचारी भावों के अन्तर्गत ठूसने की प्रवृत्ति न अपनायी जाय। देव कवि ने 'छल' को चौंतीसवाँ सञ्चारी माना है।

स्थायी भावों के सम्बन्ध में तीन बातें स्मरण रखने की हैं—

१—यह भाव विरोधी और अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होता, वरन् विरोधी भावों को भी शीघ्र अपने रूप में परिणत कर लेता है। इस का स्वरूप नमक के सदृश है जो सभी वस्तुओं को नमकीन कर देता है—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते नयः

आत्मभावं नयत्याशु स स्थायी लवणाकरः (रसगङ्गाधर)

२—यह भाव बहुत समय तक चित्त में रहता है तथा विभावादिकों से सम्बन्ध कराता है।

३—यह सजातीय अथवा विजातीय भावों से तिरस्कृत नहीं किया जा सकता और जब तक इसका रसास्वादन किया जाता है, वर्तमान रहता है। साथ ही तिरस्कृत होना तो दूर रहा, उन्हें अपने अन्तर्गत मिला लेता है। सजातीय भावों के द्वारा विच्छिन्न न होने का उदाहरण वृहत्कथा में मिलता है। मदनमंजूषा को नरवाहन दत्त प्रेम करता है। साथ-ही-साथ और नायिकाओं से भी उसका प्रेम कुछ कम प्रगाढ़ नहीं, किन्तु इससे मदनमंजूषा पर उस का प्रेम कम नहीं हो जाता। मालती-माधव के पाँचवें अंक में विजातीय भावों के द्वारा स्थायी भाव से विच्छिन्न न होने का उदाहरण भी स्पष्ट है। माधव में रतिभाव प्रबल है। वह श्मशान का वीभत्स दृश्य देखता है,जिससे उस में जुगुप्सा उत्पन्न होती है। फिर भी रति की प्रबलता कम नहीं होती। वह रति की ही प्रेरणा से प्रेतों के पास नर-मांस-विक्रय जैसा वीभत्स कर्म करने को जाता है।

यद्यपि स्थायी भाव इसके प्रधान निरुत्पादक हैं, तथापि उनके रस-अवस्था तक पहुँचने के लिए उनका जाग्रत और उद्दीप्त होना आवश्यक है। विभावों के द्वारा ही यह कार्य सम्पन्न होता है। ये ही भावों को आस्वादन-योग्य बनाते हैं। ये भावों को विशेष रूप से उत्पन्न करनेवाले वाह्य कारण हैं। इनमें जो मुख्य होते हैं, वे आलम्बन कहलाते हैं और जो गौण या सहायक होते हैं, वे उद्दीपन। रमणीय पुष्पित उद्यान में शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के हृदय में रति-भाव जाग्रत होता है। यहाँ शकुन्तला मुख्य है, इसलिए आलम्बन विभाव है। रमणीय पुष्पित उद्यान रतिभाव जाग्रत करने में सहायक होते हैं, इसलिए उद्दीपन का काम करते हैं। बिना विभावों के रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती। संचारी भावों की उत्पत्ति के लिए भी विभाव की आवश्यकता होती है। भिन्नता इतनी

ही है कि संचारी भावों की उत्पत्ति के लिए अल्प सामग्री की आवश्यकता पड़ती है, जब कि स्थायी भाव की व्युत्पत्ति के लिए चढ़ा-बढ़ा विभाव होना चाहिये। अब बच रहा अनुभाव। भावों के सूचक वाह्य शारीरिक विकार अनुभाव कहलाते हैं। "अनुभाव: विकारस्तु भाव सूचनात्मकः।" ये अतिरेक भाव को प्रकट करने के कारण या उसका अनुभव कराने के कारण अनुभाव कहलाते हैं। प्राय: देखा जाता है कि मनुष्य के अन्तर में रति-भाव उदय होने के बाद चेहरे की कान्ति बढ़ जाती है और चेहरे से कामलोलुपता स्पष्ट झलकने लगती है। क्रोध होने पर आँखें लाल हो जाती हैं और भौंहें टेढ़ी। इन्हीं वाह्य कारणों को देखकर कोई कह सकता है कि इसके अन्तर्गत रति की उत्पत्ति है। विभाव का काम केवल भाव को अंकुरित करना ही है, किन्तु अनुभाव उसे आस्वाद-योग्य बना देता है। स्मरण कीजिये, 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का वह दृश्य, जहाँ दुष्यन्त और शकुन्तला एक सघन झाड़ी में मिलते हैं। दुष्यन्त भी है, शकुलता भी है, वसंत ऋतु का कुसुमित कुञ्ज और निर्जनता भी है। कोकिल-कूजन, बन-वेलि और लताएँ भी हैं। परिस्थिति नायक और नायिका में रति-भाव उत्पन्न करने के अनुकूल है, किन्तु इसीसे कोई इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच जायगा कि नायक-नायिका में परस्पर रति-भाव का उदय हो ही गया। यह निश्चय तभी हो सकता है, जब हम देखते हैं कि दुष्यन्त ठगा-सा रह गया है, उसके हृदय में धड़कन आने लगी है। शरीर में कम्प हो गया है तथा आँखें ललचायी-सी हैं या शकुन्तला छुई-मुई-सी, लजीले नेत्रों से दुष्यन्त की ओर निहार रही है। अनुभावों से नायक-नायिका को एक दूसरे के भावों को जानने में सहायता पहुँचती है और इससे रति-भाव पुष्ट होता है। विभाव, अनुभाव संचारी भाव तथा स्थायी भाव ही ऐसी सामग्री हैं, जिनके द्वारा रस समझा जाता है। स्थायी भाव रस का मूल आधार है और शेष तीनों उसे रस की अवस्था

तक पहुँचाने में सहायक होते हैं। किन्तु प्रश्न स्वभावत: उठ खड़ा होता है कि वह कौन-सी प्रक्रिया है, जिससे रस का परिपाक होता है और इस सामग्री से उसका क्या सम्बन्ध है। नाट्यशास्त्र के कर्ता भरत मुनि ने तो सीधे-सीधे ढंग से कह दिया था कि, "विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्ति:।" किन्तु इससे उस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता; क्योंकि संयोग और निष्पत्ति से क्या तात्पर्य है, यह भ्रमात्मक-सा हो जाता है। उक्त सूत्र लिखने के बाद वे स्वयं प्रश्न करते हैं—"को दृष्टान्त:" अर्थात् इसका क्या दृष्टान्त है ? और फिर स्वयं उत्तर देते हैं—

"यथाहि गुड़ादिभिद्र व्यैञ्जनौषभिश्च षाड़वादयो रस-निवतन्ते, तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावाधिरसत्वमाप्नुवन्तीति।" —जिस प्रकार गुड़ आदि व्यंजनों और औषधियों से तरह-तरह के रस तैयार होते हैं, वैसे ही अनेक भावों से युक्त होकर स्थायी भाव भी रसत्व को प्राप्त होता है। यहाँ "नाना भावों" से तात्पर्य दीखता है, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का। जब इनका स्थायी भावों से संयोग होगा, तभी रस की उत्पत्ति होगी।

महामुनि भरत ने तो अपने जाने इसकी स्पष्ट व्याख्या कर दी किन्तु, मतभिन्नता रह ही गयी और भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न अर्थ निकाले, जिससे इसके सम्बन्ध में कई एक सिद्धान्त निकल पड़े। यों तो इस सूत्र की व्याख्या में ग्यारह मत दिये गये हैं, किन्तु इनमें चार मुख्य हैं—(१) भट्टलोलट्ट का उत्पत्तिवाद, (२) शंकुक का अनुमितिवाद, (३) भट्टनायक का युक्तिवाद और (४) अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद।

भट्टलोलट्ट ने बताया कि निष्पत्ति से भरत का अभिप्राय था, उत्पत्ति और संयोग से सम्बन्ध। इनके अनुसार रत्यादि, स्थायी भाव से उत्पन्न होकर दुष्यन्तादि मूल अनुकार्यों (original hero) के मन में रस का उद्रेक करते हैं। किन्तु वास्तव में जिन्हें इन्होंने रस कहा, वे तो लौकिक

मनोराग थे। लौकिक अनुभव और काव्य में वर्णित रस में काफी अन्तर है। विविध प्राकृतिक दृश्यों के बीच घूम-घूम कर रामचन्द्र ने वन का जो अनुभव हस्तगत किया, वह उनका लौकिक अनुभव था, किन्तु उन्हीं दृश्यों का वर्णन जब उन्होंने वाल्मीकि के ललित छन्दों में अपने द्वय-कुमारों के मुख से सुना और आनन्द लूटा, तब वह काव्यगत अलौकिक रस था। रस वास्तव में केवल अनुकार्य-नायक (original hero) में उत्पन्न होता है और अनुकर्त्ता (नट) तो अपनी वेष-भूषा बना उसके कार्यकलापों का अनुकरण करता है। भट्टलोलट्ट ने आगे बताया कि इसी अनुकरण से अनुकर्त्ता में भी रस की प्रतीति होती है या अनुकार्य के रसमय भावों का आरोप किया जाता है और पाठक चमत्कृत होकर आनन्दित हो जाते हैं—

"नटेतु तुल्य रूपतानुसंधान वशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कार हेतुः।"

यद्यपि यह मत मीमांसाशास्त्र के अनुकूल है, फिर भी इसको स्वीकार करने में विद्वानों ने दो अड़चनें सामने रखी हैं। पहला तो यह कि अनुकर्त्ता अनुकार्य के वेष-भूषा, क्रिया इत्यादि वाह्य बातों का ही अनुकरण कर सकता है, भावों का नहीं। शकुन्तला को एकान्त वन में देखकर दुष्यन्त के हृदय में जिन भावों का सञ्चार हुआ होगा, नट-दुष्यन्त के हृदय में उन्हीं भावों का उदय होना सम्भव नहीं। वह तो दुष्यन्त ही में सम्भव था। हाँ, बाह्य बातों के अनुकरण से अनुकर्त्ता भावों की सूचना दे सकता है किन्तु स्वयं भावों का अनुभवजन्य अनुकरण चाहे वह गौण-रूप में ही क्यों न हो, शक्य नहीं है। साथ ही साथ यह भी सम्भव नहीं कि प्रेक्षक या पाठक को जिस भाव का स्वयं अनुभव न हो, उससे वह आनन्द उठा सके।

दूसरी आपत्ति जो सामने रखी जा सकती है, वह यह कि रस को विभाव आदि का कार्य मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि कार्य का अस्तित्व

कारण के बाद भी रह सकता है। किन्तु रस तभी तक रह सकता है, जब तक विभावादि का प्रत्यक्ष दर्शन होता रहता है। विभावादि (कारण—आलंबन और उद्दीपन) के लोप होने के साथ ही साथ रस (कार्य) का भी अस्तित्व मिट जाता है। इसके अतिरिक्त कार्य-कारण में पूर्वापर सम्बन्ध रहता है, किन्तु विभावों का दर्शन और रस का आस्वादन दोनों ही साथ साथ समाप्त होते हैं।

इन आपत्तियों से बचने के लिए श्री शंकुक ने अपना अनुमितिवाद चलाया। यह मत न्यायशास्त्र के अनुकूल है। इन्होंने भरतमुनि के निष्पत्ति को अनुमिति माना और बताया कि अनुकर्त्ता पर अनुकार्य के भावों का आरोप करने में भी वास्तविकता है। यदि आरोप करने के स्थान पर अनुमान करना कहा जाय, तो अधिक संगत होगा। तात्पर्य यह कि नट में तो वास्तव में नायक के भाव होते नहीं, किन्तु प्रेक्षक के द्वारा नट में नायक के भावों का अनुमान कर लिया जाता है। इस अनुमान के द्वारा प्रेक्षक जब इस भाव को समझने लगता है, तो वह भाव के सौंदर्य के कारण चमत्कृत हो जाता है और एक विचित्र आनन्द शंकुक के अनुसार स्वाद या रस है। प्रेक्षक अभिनेता को थोड़े समय के लिए नायक समझ लेता है और नायक की मनोवृत्तियों का प्रेक्षक के ऊपर आरोप कर स्वयं रसास्वादन करता है।

किन्तु शंकुक का यह वाद भी अपने में पूर्ण नहीं हुआ। उन्होंने एक तो इस तथ्य की अवहेलना कर दी कि प्रत्यक्ष ज्ञान से जो चमत्कारपूर्ण आनन्द मिल सकता है, वह अनुमान से नहीं और दूसरे उत्पत्ति के विषय में भी कठिनाई रह ही गयी। अनुमितिवाद अथवा उत्पत्तिवाद दोनों में एक रस की सत्ता प्रेक्षक में नहीं मानी जाती और कोई दूसरे के भाव से प्रभावित भी कैसे हो सकता है?

भट्टनायक ने 'निष्पत्ति' का अर्थ भोग माना। भोग का अर्थ है, "सत्वोद्रेक प्रकाशानन्द संविद्धि श्रान्तिः" अर्थात् सत्वगुण के उद्रेक

से प्रादुर्भूत प्रकाशरूप आनन्द का ज्ञान—आनन्द का अनुभव। इन्होंने आरोप और अनुमान—दोनों की बात ताखे पर रखी और कहा—'अभिनय करते समय करुणा अथवा आनन्द का जो प्रवाह प्रेक्षकों में प्रवाहित होता है, वह मोहक और व्यापक होता है। इसलिए दर्शक इस बात का अनुभव करने में असमर्थ हो जाते हैं कि जिन रत्यादि भावों के आधार से वे रस-विशेष का आस्वाद कर रहे हैं, वे उनके हैं या किसी दूसरे के। वास्तव में वे उस समय बिलकुल निरपेक्ष होते हैं। यह युक्तिवाद यद्यपि पूर्ण नहीं, पर एक समस्या को हल कर देता है कि हम दूसरे के भाव से किस प्रकार आनन्दित हो सकते हैं। युक्तिवाद में भाव किसी व्यक्ति-विशेष के न रहकर जन-सामान्य के हो जाते हैं और जन-सामान्य के नाते दर्शक भी इसके उपभोग के अधिकारी बन जाते हैं।

अभिनवगुप्त ने तीनों से परे एक नया पंथ निकाला। इनका मत अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने बताया कि रति आदि स्थायी भाव दर्शकों के हृदय या अन्तःकरण में वासना या संस्कार के रूप में पहले ही से बना रहता है, किन्तु यह सूक्ष्मतया स्थित और अप्रकट अवस्था में रहता है। यही अव्यक्ति या अप्रकट नाटक के श्रवण-पठन अथवा प्रेक्षण से व्यक्त या प्रकट होता है और आनन्द में परिणत हो जाता है। यही रस की निष्पत्ति है। या यों कहिये कि जिस रूप में स्थायी भाव का अनुभव मनुष्य को होना चाहिए, उस रूप में नहीं होता क्योंकि उनके ऊपर अज्ञान का आवरण पड़ा रहता है। निपुण अभिनय के द्वारा विभावानुभाव के प्रदर्शन से अज्ञान का आवरण हट जाता है और वे आत्मानन्द के प्रकाश में रस का अनुभव करते हैं या यह भी कह सकते हैं कि विभावानुभाव का उचित प्रदर्शन उनके पूर्व संस्कार को उत्तेजित कर उन्हें इस प्रकार तन्मय बना देता है कि उनकी चित्तवृत्ति आनन्दित हो जाती है। इस

तरह स्थायी भाव और चैतन्य दोनों के योग से ही रस की प्रतीति होती है, किन्तु रस की अनुभूति तब तक सम्भव नहीं, जब तक वासनारूप संस्कार पहले से ही वर्तमान न हो। धनंजय इत्यादि अन्य शास्त्रकारों ने भी इसे स्वीकार किया है। वे भी मानते हैं कि स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के योग से आस्वादन करने-योग्य हो जाता है, तब सहृदय प्रेक्षक के हृदय में रस-रूप में उसका आस्वादन होता है। इस प्रकार रस की उत्पत्ति नहीं होती न अनुमिति ही होती है, वरन् एक अव्यक्त भाव की अभिव्यक्ति होती है।

हिन्दी का गीति-काव्य

हिन्दी-साहित्य में साधारणतया तीन प्रकार के काव्य-रूपों का प्रचार है। (१) प्रबन्ध-काव्य—इसके अन्तर्गत महाकाव्य और खण्ड काव्य आते हैं। (२) मुक्त-काव्य—इसमें न तो किसी वस्तु का वर्णन ही होता है, न गेय ही होता है। यह जीवन के एक पहलू का या प्रकृति के एक अंग का चित्रण-मात्र होता है। इसमें पूरे जीवन का चित्र नहीं आँका जा सकता। यह राज-दरबारों या कवि-सम्मेलनों में गाने के उपयुक्त होता है। (३) गीति-काव्य—यह काव्य का तीसरा रूप है। आजकल इसके महत्व की उत्तरोतर अभिवृद्धि होती जा रही है। यह अँगरेजी के बैलेड्स का हिन्दी रूपान्तर है। हमें इसी गीति-काव्य की यहाँ विशद विवेचना करनी है। इसके निम्नलिखित विभाग किये जा सकते हैं—

(१) गीति-काव्य का इतिहास—प्राचीन युग से आधुनिक युग तक

(२) इसकी विविध शैलियाँ:—(क) व्यंग्य-गीति, (ख) पत्र गीति, (ग) शोक गीति (घ) किसी वर्ग-विशेषकी भावना के प्रदर्शन करनेवाले-गीति, (ङ) विशुद्ध अध्यान्तरिक-गीति—यह अँगरेजी के ओड्स (Odes) का रूपान्तर है। कोई-कोई इसे संबोध-गीति भी कहते है, क्योंकि इसमें कवि वस्तु-विशेष को सम्बोधित करके अपने आन्तरिक

भावों को प्रगट करता है। (च) गद्य गीत—ये गीतियों से कुछ भिन्न होते हैं। इनमें गेयता अधिक होती है। अतः लय और संगीत पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

काव्य में गीति का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। काव्य वस्तुतः गीति ही है। संसार की जिन विभूतियों से मनुष्य सामंजस्य स्थापित करता हुआ वंचित सा रह जाता है उसे वह संगीत के द्वारा काव्यों या गीतियों में व्यक्त करने में समर्थ होता है। उसकी अमूर्त भावनायें मूर्त में रूपान्तरित होती हैं। इस संगीत के सहारे सम्पूर्ण जगत आनन्द एवं शक्ति के निकेतन-सा लगने लगता है। कवि को जिस समय स्वयंभू का प्रतिनिधि कहा गया था, उस समय यह प्रशंसा का अतिरेक मात्र न था वरन् उसमें एक गंभीर आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यंजना की गयी थी। कवि जिस समय अपने काव्य में संगीत का सामंजस्य स्थापित कर लेता है, उस समय वह अचेतन भौतिक भव से ऊपर उठकर अपना सम्बन्ध जगत् के चिरंतन लय से स्थापित कर लेता है और उसका जीवन आनंद के चेतन प्रवाह में प्रवाहित होने लगता है।

चिरकाल से मनुष्य की आत्मा इसी आनन्द की खोज में छटपटा रही है। वह इसी संगीत को माध्यम बना आनन्द के सन्निकट पहुँचना चाहती है। शायद अपने में संगीत का आभास पाते ही वह उस अहं से निकटता अनुभव करने लगती है। इसलिये संगीत अनादि काल से हमारे जीवन के चतुर्दिक प्रवाहित होता रहता है और इसलिये हम देखते हैं कि मनुष्य का गीति-काव्य में जो सच्चा आह्लाद होता है वह अन्य किसी काव्य-विधि में नहीं। गीति-काव्य में केवल कल्पना की उड़ान ही नहीं रहती वरन् हमारे अन्तःस्तर को छूने की भी शक्ति रहती है। मानव के चिरपिपासित मूक प्राण इस गीति-काव्य में बोलने लगते हैं। वह अपने जन्म-जन्मान्तर की साधना, उत्कण्ठा, सफलता, असफलता सभी को गीति-काव्य में व्यक्त करता है जब मानव-

हृदय का यह सत्य काव्य में अनुप्राणित होता है तो वह आनन्द से ओतप्रोत हो प्राकृतिक झरने की तरह फूट पड़ता है और साहित्य अखण्ड-ज्योति के प्रकाश की नाईं जगमगा उठता है।

गीति-काव्य का इतिहास शायद मानव-जीवन के इतिहास के साथ ही साथ आरम्भ होता है। ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर गाथा शब्द का प्रयोग मिलता है। 'गाथा' का अर्थ ही है गीत और इस अर्थ में इसका व्यवहार अनेक मन्त्रों में पाया जाता है (ऋग्वेद ८।३२।१ कण्व इन्द्रस्य गाथया)। ब्राह्मण और आरण्यक में इसका विशेष उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण में ऋक् और गाथा में अन्तर बतलाया गया है। प्रथम दैवी है और दूसरा मानुषी। दूसरा किसी राजा आदि के सत्कृत्य को लक्ष्य कर गाया जाता था। इसमें मानुषिक उद्योग ही प्रधान होता था। अंग्रेजी के बैलेड्स में भी किसी आदर्श पुरुष के सत्कृत्य को ही लक्ष्य किया जाता है। महाभारत में भी इन गाथाओं का ठीक-ठीक उपयोग पाया जाता है। विक्रम की तृतीय शताब्दी में गीत लिखने की प्रणाली जोर-शोर से प्रचलित थी। अपभ्रंश काल में भी इस प्रणाली का ह्रास नहीं हुआ। विक्रम की दशवीं शताब्दी में भी गीति लिखे गये। लोक-गीतों का तो उस समय इतना बाहुल्य था कि वे समसामयिक सभी पुस्तकों में पाये जाते हैं। काव्य-रूप की दृष्टि से आधुनिक गीति-काव्य का प्रारम्भ सम्भवतः इन्हीं लोक गीतों से हुआ होगा। डा० श्रीकृष्णलाल अपने "आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास" में गीति-काव्य का विकास संयुक्त प्रान्त के पश्चिमीय भाग में प्रचलित लावनी गीतों से हुआ बताते हैं। इस गीति में पाँच पंक्तियों के पश्चात् एक चरण की पुनरावृत्ति हुआ करती है। इसी की तरह कजली, दादरा इत्यादि अन्य लोक-गीतों में भी एक चरण की पुनरावृत्ति होती है। यही पुनरावृत्ति आधुनिक गीति-काव्य का प्रथम सोपान बनी। 'शङ्कर' ने पहले-पहल अपने गीति-काव्य में इसे स्थान दिया। फिर

तो लेखकों की बाढ़ सी आ गयी और गीति काव्य लिखे जाने लगे। मैथलीशरण गुप्त ने 'कुकवि कीर्तन', 'स्वर्ण सहोदर' तथा 'स्वर्ण संगीत' लिखा। लाला भगवानदीन ने 'मसान' की नींव डाली। मन्नन द्विवेदी ने अपनी 'चमेली' में भी इसी लावनी की पुनरावृत्ति की। सत्याग्रह संग्राम में तो जाने सैकड़ों कविताएँ लिखी गयीं जिनमें लावनी की पुनरावृत्ति ही प्रधान रही। सत्याग्रह-समय के 'वकिलवा' और 'फिरंगिया' के गीतों को किसने नहीं सुना होगा?

गीति-काव्य का पहला चरण जो लोक-गीतों से आरम्भ हुआ था, यहीं समाप्त हो जाता है। अब तक इसमें पुनरावृत्ति ही प्रधान थी किन्तु अब इसमें किसी विशेष भावना का आरोप भी होने लगा। कवियों का ध्यान भावनाओं के एकीकरण की ओर गया और उसमें गम्भीरता और शक्ति आती गयी।

किन्तु प्रौढ़ता आ जाने पर किसी वस्तु की कलात्मक अभिव्यंजना लोग अधिक पसन्द करते हैं। अब केवल भावनाओं के आरोप मात्र से ही गीति-काव्य सुन्दर नहीं बताया जाने लगा, वरन् उसमें कला का पूर्ण विकास ढूंढ़ा जाने लगा। काल-क्रम से सचेतन कला, नाद और लय की अभिवृद्धि हुई और गीति-काव्य अपने उत्कर्ष की ओर बढ़ने लगा।

कला की प्रौढ़ता के साथ ही कवियों ने भावव्यंजना की एक नयी प्रणाली निकाली। वे चित्रव्यंजना द्वारा भावों का प्रदर्शन करने लगे। सियारामशरण गुप्त का 'सरस्वती-आराधन' एक भाव-चित्र कहा जा सकता है। यह बन्दना एक बहुत ही सुन्दर चित्र है। कवि आराधना के लिये जब आगे पग बढ़ाता है, तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसके पैर बढ़ रहे हैं। मंन्दिर का चित्र हू-ब-हू पाठक के सामने खिंच जाता है, जब कवि स्पष्ट शब्दों में कहता है—"जहाँ है अक्षय स्वर झंकार, प्रमद-चिर-चंचल पारावार।" और फिर अपनी रचना

को तुच्छ समझ कर पीछे लौटने लगता है तो उसे एकाएक याद आ जाती है कि उसकी रचना तुच्छ नहीं और वह उसे मा सरस्वती के कोमल-चरणों में अर्पित कर सकता है। तब वह एक विचित्र चित्र खींचता है अपने भावों का—

आँसुओं का यह प्रचुर प्रवाह, हृदय का ऐसा दाहक दाह !
मर्म का इतना गहरा घाव, साधनों का यह बृहदाभाव।
वेदना का यह चिर-चित्कार, चेत उठता जो बारम्बार।
गूंथ इन सबको एकाकार, बना कर इन सबका उपहार !
रहूंगा क्या फिर भी मैं दीन, अकिंचन और उपेक्षित, हीन ?

काव्य की चित्रव्यंजना कितनी सुन्दर और मधुर हो सकी है यह नहीं कहा जा सकता। कवि अपनी सारी बातों को चित्र रूप में उपस्थित करने में पूर्णत: समर्थ हो जाता है और कविता पूर्णतः प्रभावशालिनी और कला की दृष्टि से सर्वोच्च हो जाती है।

किन्तु इन कवियों और आज के कवियों में एक बड़ी भिन्नता पायी जाती है। प्राचीन कवि किसी निश्चित स्वरूप वाले पदार्थ का ही चित्र अपनी कविताओं में आँका करते थे, जब कि आज के कवि निश्चित रूप वाले उपादानों का वहिष्कार कर अनिश्चित रूप वाले उपादनों को ही अपने काव्य की वर्ण्यवस्तु बना लेते हैं। अर्थात् आज का कवि फूल, पशु, पक्षी आदि का चित्रण न कर प्रकृति के निर्जन रूप, ऊषा, निर्झर, संध्या इत्यादि का चित्रण सफलता से उपस्थित करता है। इनमें कवि कल्पना की उड़ान लेकर भाव को एक निश्चित रूप प्रदान करता है। हमारे छायावादी कवि तो लगभग इसी दृष्टिकोण के अन्तर्गत आ सकते हैं। प्रसाद के दो-एक चित्र उपस्थित करना यहाँ असंगत न होगा। गीति काव्य के लिये कवि में सौंदर्य-वृत्ति (aesthetic sense) का होना आवश्यक है और प्रसाद की रचनायें इस सौंदर्य-वृति से ओतप्रोत हैं। दूसरा अनिवार्य

गुण स्वानुभूति की भी कमी नहीं। इनकी एक कविता कसौटी पर रखी जाय—चन्द्रगुप्त में सुवासिनी गाती है—

तुम कनक किरन के अन्तराल में लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते, यौवन के घन रस कन ढरते
हे लाज भरे सौंदर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में कल-कल ध्वनि की गुंजारो में
मधु-सरिता सी यह हँसी तरल अपनी पीते रहते हो क्यो ?

प्रसादजी के गीत-काव्यों में यह अति उत्तम है। चाहे जिस भावना से इस पर दृष्टि दौड़ाइये, काव्य की दृष्टि से, संगीत की दृष्टि से, भाव गरिमा, कल्पना, रूप सौष्ठव, चाहे जिस दृष्टि से भी देखिये, यह गीति-काव्य खरा उतरता है। यद्यपि यह स्वतन्त्र गीत नहीं फिर भी अपने में पूर्ण और सजीव है। कारण स्पष्ट है। प्रसादजी को जहां भी सौंदर्य के चित्रण का अवसर मिला है, उन्होंने उसका सजीव चित्र सामने ला दिया है। जहां रूप के चित्र का प्रश्न है प्रसाद के ऐसा दूसरा रूप-चित्रकार हिन्दी जगत में नहीं आया। लज्जा से भरा सौंदर्य जो सब कुछ बोलते हुए भी चुप है—उसके ओठों में एक हल्की-सी मुस्कान है और आंखों में कौतुक का स्पष्ट चिन्ह है। सौंदर्यानुभूति के साथ कवि ने ऐसा सामंजस्य स्थापित कर लिया है कि एक नवोढ़ा लज्जा से सकुची हुई किशोरी पाठक के सामने अपने स्पष्टतर रूप में आ जाती है। इस चित्र में जीवन का स्पन्दन है। लज्जा के मारे किशोरी की आंखें झुकी हुई हैं। कभी-कभी वह कनखियों से जैसे लुक-छिप कर देख लेती है, मानो कुछ सन्देश देना चाहती हो।

किन्तु विकास की इन तीन सीढ़ियों के अतिरिक्त भी इस काल में प्राचीन ढंग के गीति काव्य लिखे गये। कजली, दादरा, लावनी आदि तो पूर्व की तरह ही लिखे जाते रहे। इसके अतिरिक्त

सत्यनारायण कविरत्न, बद्रीनाथ भट्ट, और श्रीधर पाठक ने भी सुन्दर पदों की रचना की। माधव शुक्ल ने 'भारत-गीतांजलि' लिखी। श्रीधर पाठक के गीत विशेषतया ग्रामीणों के लिये लिखे गये हैं।

शैलियाँ—गीति-काव्य की छः शैलियाँ बताई जा चुकी हैं। व्यंग्य-गीति में व्यंग्य (ताना) की भावना प्रधान रहती है। इसमें किसी व्यवस्था में घुसी हुई बुराइयों के प्रति व्यंग किया जाता है। व्यंग्य गीति की तरह व्यंग्य प्रबन्ध काव्य भी होता है। हिन्दी में यह गीति बहुत ही कम लिखा गया है। नाथूराम 'शंकर' के कुछ उत्कृष्ट गीत हैं। इन्होंने हिन्दुओं के कृष्णावतार पर सुन्दर व्यंग्य किया है।

(२) पत्र-गीति—इस श्रेणी में पत्र गीत के रूप में लिखे जाते हैं। हिन्दी में इस प्रकार के गीत नहीं लिखे जाते थे। इसे लोग बंगाल के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदनदत्त का अनुकरण मात्र मानते हैं। कितने लोग तो इस पत्र-गीति को गीति-काव्य में स्थान ही नहीं देते किन्तु हडसन के मतानुसार यह गीति-काव्य की ही श्रेणी में आता है। इस श्रेणी में इसे स्थान न देने का कारण यही है कि इसमें गहनता नहीं होती और शैली विशुद्ध वर्णनात्मक होती है।

शोक गीतों की रचना हिन्दी में एकदम कम है। कामता प्रसाद गुप्त का 'ग्रामीण-विलाप' कवि 'ग्रे' की 'एलिजी' का रूपांतर मात्र है। इस श्रेणी की सर्वश्रेष्ठ रचना जयशंकर प्रसाद का 'आंसू' है। सम्पूर्ण काव्य में अन्तर्वेदना की एक लहर दिखायी पड़ती है। कवि जीवन के मृदुल एवं रसमय अतीत का स्मरण करता है और उसके अभाव में रोता है। किन्तु इस अभाव को मानव जीवन का निष्ठुर-सत्य समझ कर जीवन से समझौता करता है। वह रुदन को जीत कर एक सत्य का अनुसन्धान करता है और उसी सत्य के सहारे अपने मन को सान्त्वना देते हुए आगे बढ़ने के लिये उत्साहित करता है। 'आंसू' के मुख पृष्ठ पर ही पुस्तक का परिचय देते हुए कवि लिखता है:—

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई
दुर्दिन में आंसू बनकर वह आज बरसने आई।

सारी पुस्तक की वेदना इन्हीं चन्द पांक्तियों में व्यक्त हो जाती है। कवि के मस्तक में अतीत की स्मृति आज पीड़ा के रूप में घनीभूत हो गयी है। यों तो पंक्तियां एक-से-एक विरह से ओतप्रोत हैं, जिनका चुनाव करना कठिन है। थोड़े में, सारी पुस्तक ही मधुर विरह-स्मृतियों में डूबी हुई है। श्री रामनाथ 'सुमन' अपनी पुस्तक "कवि प्रसाद की काव्य साधना" में लिखते हैं—

"इसकी सफलता यही है कि इस रोदन और वेदना के बीच भी कवि जीवन के सत्य की रक्षा कर सका है। उसके रोदन में आत्म-हत्या नहीं है, वह रोता है पर अन्त में अपने मन को शांत करके जगत् के सत्य को ग्रहण करता और जीवन के साथ समझौता करता है। निराश और दुःख के अन्त में हम आशा का सन्देश पाते हैं। निराशा और व्यथा के कोहरे को भेद कर आशा की मृदुल शांतिमयी किरण आती हैं। कवि विरह और मिलन को जीवन के सामान्य क्रम में ग्रहण करता है। काव्य की अन्तिम पंक्तियों में वेदनाभार से दबे हुए हृदय को हम ऊपर उठता देखते हैं।"

'आँसू' में दार्शनिक तत्व की भी स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है, जो हमें दुःख और पीड़ा में आशा का अमर सन्देश देती है। आँसू के अन्त में कवि सुख-दुःख में समत्व की भावना स्थापित करते हुए कहता है—

चेतना लहर न उठेगी,
जीवन समुद्र थिर होगा।
संध्या हो स्वर्ग प्रलय की,
विच्छेद मिलन फिर होगा।

प्रसादजी के अतिरिक्त भी आँसू पर और लोगों ने भी कई कविताएँ

लिखी जिनमें हरिऔधजी का 'आँख का आँसू', माखनलाल चतुर्वेदी तथा पन्त का 'आँसू' इत्यादि बहुत प्रसिद्ध हैं। इन आँसू-काव्यों में विरह और स्मृति की सुन्दर व्यंजना हुई है, जिसमें मानव जीवन की सुकुमार वेदना अन्तर्निहित है।

सुमित्रानन्दन पन्त विरह को ही वरदान मानते हैं—

विरह है अथवा यह वरदान !
कल्पना में है कसकती वेदना, अश्रु में जीता सिसकता गान है
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं, मधुर लय का क्या कहीं अवसान है ?

अथवा वेदना का यह आग्रह

माँ, मुझे वहाँ तू ले चल !
देखूँगा वह द्वार—
दिवस के पार
मूर्च्छित हुआ पड़ा है जहाँ
वेदना का संसार !

अथवा वेदना का यह आह्वान—

आज वेदने, आ तुझको भी
गा-गा कर जीवन दूँ,

किन्तु ये शायद सभी अंग्रेज कवि शेली से "हमारे मधुरतम संगीत वे हैं, जो खिन्न हृदय के गंभीरतम विचारों की व्यंजना करते हैं" से प्रभावित जान पड़ते हैं।

किसी वर्ग विशेष की भावना को प्रदर्शन करने वाले गीतों के सर्व-श्रेष्ठ लेखक माखनलाल चतुर्वेदी तथा गयाप्रसाद शुक्ल हैं। माखन-लालजी 'भारतीय विद्यार्थी' के प्रसंग में सारे विद्यार्थी वर्ग को सम्बोधित करते हैं। इस श्रेणी में अधिकांश राष्ट्रीय गीत आते हैं।

गीति-काव्य का पाँचवाँ भेद अभ्यान्तरिक काव्य है। यह गीतियों का सब से महत्वपूर्ण अंग है। यह कवि के अन्तःप्रवृत्ति और चित्त—

वृत्ति' का काव्य है, जो उसकी प्रकृति के अनुसार बदलता रहता है। इस गीति में कभी-कभी तो कवि अपना सारा अनुभव और सारी भावनाएँ अपने ऊपर ही आरोपित करके लिखता है और कभी किसी वस्तु के अवलोकन से जो भाव और विचार, कल्पना और चित्र, हृदय अथवा मस्तिष्क में उठते हैं, उनकी व्यंजना करता है, तो कभी किसी दूसरे व्यक्ति, वस्तु अथवा प्रसंग में अपने को रखकर अपनी कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। पहले में सुभद्राकुमारी चौहान का "कलह्-कारण" लिया जा सकता है, अथवा रामनाथ 'सुमन' का "कलेजे का तूफान"

बैठकर सारी सूनी रात,
तुम्हारे चुम्बन का आघात।
याद कर देखा करता नाथ !
विरहिणी आँखों की बरसात।
हँसी में रुदन, रुदन में प्राण,
नाच उठता है गा कर गान।
भला दुनिया क्या सकती जान,
कलेजे का मेरे तूफान ।

दूसरे में सियारामशरण गुप्त का 'दूरागत गान' सुनिये :—

दूर से आकर तुम हे गान।
आकुल करते हृदय-मर्म को,
भेद लक्ष्य अनजान

इसे सम्बोध-गीत भी कहते हैं, जिसे मैं ओड्स (odes) का रूपान्तर कह चुका हूँ—

हिन्दी में भी इन संबोध-गीतों की संख्या पर्याप्त है और इनमें बहुत से उत्कृष्ट हैं। प्रसाद के 'किरण', 'रूप', 'वसंत', विषाद', 'दीप' इत्यादि, निराला के 'वसंत-समीर', 'भिक्षुक', 'जुही की कली'

'शेफालिका' इत्यादि, 'पंत' के 'पल्लव', 'आँसू', 'छाया', 'परिवर्तन' आदि हिन्दी के सर्वोत्तम संबोध-गीति हैं।

सुमित्रानन्दन के 'बादल' में एक दूसरी शैली भी मिलती है, जिसमें वह स्वयं अपनी कथा कहता है। संबोध-गीति में मुख्यत: कवि की कल्पना होती है।

तीसरे में माखनलाल चतुर्वेदी की 'पुष्प की अभिलाषा', आ सकती है। यदि भाग्यवश वे एक फूल में परिवर्तित कर दिये जाते, तो उनकी क्या अभिलाषा होती, इसकी व्यंजना की गयी है।

नाट्य गीतों को भी गीति-काव्यों में स्थान देना असंगत न होगा। यद्यपि ये गीत हिंदी में बहुत ही कम लिखे गये, फिर भी जो लिखे गये, उनका अस्तित्व हिन्दी-साहित्य में सदा के लिए बना रहेगा। गीति लेखकों में प्रसाद, गोविन्दवल्लभ पन्त, उग्र इत्यादि का नाम लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए 'प्रसाद' का एक गीत लीजिये—

स्कन्दगुप्त में देवसेना गा रही है—

सब जीवन बीता जाता है।
धूप-छाँह के खेल सदृश, सब०

समय भागता है प्रति क्षण में, नव अतीत के तुषार-कण में
हमें लगाकर भविष्य रण में, आप कहाँ छिप जाता है
सब जीवन०

* * * *

बंशी को बस बज जाने दो, मीठी मीड़ों को आने दो
आँख बन्द करके गाने दो, जो कुछ हमको आता है
सब जीवन०

इस गीत में संगीत की प्रचुर मात्रा है। विहाग में गाने पर इसका माधुर्य पाठकों को मोह ले सकता है।

कहानी की बात

आज का जगत विज्ञान का जगत है। प्रत्येक कार्य के मूल में कारण की भावना छिपी है। यों तो परिभाषा देने की प्रणाली कोई नयी नहीं। आदि काल से ऋषि महर्षियों ने छोटी-सी-छोटी वस्तुओं की भी परिभाषा दे रखी है। यहाँ तक कि हृदय के मनोवेगों—ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि तक की भी परिभाषा की गयी है। फिर क्या कारण है कि छोटी कहानी की ही परिभाषा न दी जाय। और यदि नहीं ही दी जाय, तो क्यों कर लोग सन्तुष्ट होने लगें। शिकागो-विश्वविद्यालय में कहानी पर व्याख्यान देते हुए एक बार जेम्स डब्ल्यू० लिन ने कहा था—"कहानी किसी पात्र के जीवन की एक वह महत्वपूर्ण घटना है, जिसकी संक्षेप में नाटकीय ढङ्ग से अभिव्यंजना की गयी हो।" इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर प्रायः कहानी के सभी अंगों की प्राप्ति हमें हो जाती है। कहानी में कथानक का स्थान सर्वोपरि है, किन्तु आज-कल के कुछ अँगरेजी लेखक कथानक को गौण स्थान प्रदान करने लगे हैं। इसके बाद चरित्र-चित्रण और कथनोपकथन का स्थान आता है। किन्तु इन तीनों में चरित्र-चित्रण का स्थान ही सब श्रेष्ठ है, इसे सभी साहित्यिक

मानते हैं। पर यदि पात्रों का चरित्र-चित्रण करने के लिए कथनोपकथन का सहारा न लिया जाय, तो सारे पात्र अस्तित्वहीन होकर बैठ जायँ। उन्हें न आगे की सूझे, न पीछे की। कथनोपकथन उनके चरित्र पर प्रकाश डालता है—मार्ग-प्रदर्शन का काम करता है। यही कारण है कि कहानी में मूक पात्र के लिए स्थान नहीं दिया गया। दूसरी बात, जिस पर परिभाषा में जोर दी गयी है, वह है कहानी में सूक्ष्मता और नाटकीय ढंग का उपयोग। यह प्रणाली कहानी के लिए सर्वथा उपयोगी है। यह कहानी के व्यक्तित्व को हमारे सामने रखता है। सूक्ष्मता न होने से कहानी की मर्यादा का उल्लंघन होता है।

कला से अनभिज्ञ अनेक लोगों की दलील है कि कहानी और उपन्यास में कोई मौलिक अन्तर नहीं। किन्तु ऐसा नहीं। दोनों में कुछ समता अवश्य है, किन्तु इसका परिहार कर उसमें एकरूपता का भेद आरोपित करने की क्षमता रखती है। यह तो अवश्य है कि कहानी उपन्यास की ही औरस-जात है, किन्तु कुछ समय से यह अपने पितृ-गृह में निवास नहीं करती। इसने नवीन कुल की मर्यादा ग्रहण कर ली है। यद्यपि उपन्यास और कहानी दोनों ही मनुष्य-जीवन की आनुषंगिक कथा को कल्पना के रंग में रंजित कर गद्य में व्यक्त करते हैं और इस दृष्टि से दोनों का आधार तथा प्रणाली एक ही है, तथापि इन दोनों की प्रणाली विभिन्न समझी जाने लगी है। इन दोनों में आकार-भेद ही न रहकर रूप-रंग की भिन्नता हो गयी है और इस तरह से कहानी-कला की एक स्वतन्त्र सृष्टि हो गयी है। इसको एक स्वतन्त्र कला-कृति बनाने का श्रेय अमेरिका के प्रसिद्ध कहानी-लेखक 'हाथर्व' और 'पो' को ही नहीं, 'स्काट' और 'डिकेन्स'को भी है। हाँ, यह अवश्य है कि प्रथम दो लेखकों ने 'स्काट'और 'डिकेंस' की कहानियों का अधिक विकास कर एक स्वतन्त्र कला-कोटि में ला रखा है। छोटी कहानियों में किसी एक प्रसंग को लेकर उसकी मार्मिक झलक दिखा देने का ही

उद्देश्य निहित रहता है। वह जीवन का समय-सापेक्ष बहुमुखी चित्र अंकित न कर केवल एक क्षण में घनीभूत दृश्य दिखला देती है, पात्र के जीवन की किसी एक महत्वपूर्ण घटना की अभिव्यक्ति करती है। इसमें उपन्यास की भाँति किसी पात्र के जीवन की विशद-विवेचना का स्थान नहीं रहता है। उपन्यास लेखक किसीके जीवन की सर्वाङ्गसुन्दर चतुर्दिक व्याख्या करनेका प्रयास करता है,किन्तु कहानी-लेखक जीवन की विशद व्याख्या में सफलता नहीं पाता, वरन् जीवन की किसी अत्यन्त महत्वशाली घटना को चुन लेता है।

वास्तविकतावादी उपन्यास प्राय: अपने में सम्पूर्ण होते हैं, परन्तु कहानी में सम्पूर्णता के स्थानपर लाक्षणिकता का प्रयोग अधिक श्रेयस्कर होता है। अत: कहानी और उपन्यास का प्रमुख भेद घटना-निर्वाचन, उपेक्षा और गोपनीयता है। घटना-निर्वाचन में कहनी-लेखक को बराबर सतर्क रहना चाहिये। क्योंकि कहानी उपन्यास की तरह जीवनकी विशद व्याख्या नहीं करती, उसका सम्पूर्ण चित्र अङ्कित न कर, उसके एक विशेष अङ्ग का प्रभावपूर्ण और लक्षणात्मक ढंग से चित्रण करती है। कहानी लिखने के पहले ही एक लक्ष्य निर्धारित रहता है, जिसपर पहुँचने के लिए विविध पात्रों एवं घटना का प्रयोग किया जाता है। इन पात्रों या घटनाओं की कहानी में कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। ये केवल कहानी को उस लक्ष्य तक पहुँचाने के साधन मात्र होते हैं। किन्तु उपन्यास में इनकी स्वतन्त्र सत्ता संभव हो सकती है। घटनाओं का अनिर्दिष्ट क्रम और कथा का स्वच्छन्द विकास किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि कहानी के बीच में अन्तर्कथाओं की सृष्टि नहीं की जा सकती, जब कि उपन्यास इसके लिए सर्वथा स्वतन्त्र है। राजा राधिकारमण सिंह का 'रामरहीम' तो जैसे दो कथाओंका संयोगमात्र है। यदि बेला और बिजली के चरित्र को एक दूसरे से अलग कर दिया जाय, तो शायद उपन्यास में कोई त्रुटि नहीं आ सकती है और एक उप-

कथोपकथन तो नाटक का प्रमुख अङ्ग है। नाटक इसके बिना खड़ा नहीं हो सकता। क्योंकि इसके बिना इसके पात्र सर्वथा मूक रहेंगे और मूक पात्रों में न तो स्वाभाविकता होती है, न सजीवता। कथोपकथन ही नाटक और कहानी के सम्बन्ध का ज्वलन्त उदाहरण है।

कहानी और नाटक की शैली में भी पूरी समता है। जिस प्रकार नाटककार अपनी स्थिति को थोड़े से ही प्रभावोत्पादक शब्दों में व्यक्त करना चाहता है, ठीक उसी प्रकार कहानीकार भी अपने थोड़े-से उपकरणों को लेकर अपनी कला का प्रदर्शन करने में प्रवृत्त होता है। कहानीकार बिना किसी भूमिका के अपने कार्य-क्षेत्र में लीन हो जाता है। नाटककार को भी भूमिका का अवसर नहीं मिलता, वह अपनी परिस्थिति में गाम्भीर्य का समावेश करते हुए अग्रसर होता है और पाठक को अन्तिम स्थिति के लिए तत्पर करने का प्रयत्न करता है।

यों तो जेम्स डब्ल्यू० लीन की उपर्युक्त परिभाषा से ही सारी शङ्काएँ दूर हो जाती हैं, क्योंकि 'किसी पात्र के जीवन की किसी विशेष घटना की नाटकीय अभिव्यञ्जना ही कला है।" यहाँ "नाटकीय अभिव्यञ्जना" ही सारी शङ्काएँ दूर कर देती हैं। अतः बिना नाटकीय ढंग का अनुसरण किये कहानी सफल नहीं हो सकती। नाटकीय गुणों के समावेश से इनके प्रभाव में प्रबलता आती है। हृदय पर गहरी छाप लगानेवाली रीतियों का प्रयोग, पात्रोंके जीवनमें सङ्कट उपस्थित करना, स्थितिको प्रोत्साहन देना, कथोपकथनकी कलापूर्ण नाटकीय रचना, केवल एक ही समस्यापर मनोयोग, दृश्यका मर्मस्पर्शी चित्रण आदि चमत्कारपूर्ण कहानियों के ही लक्षण हैं और यह विकसित रूप नाट्यकला की सहायता का ही परिचायक है। अतः इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है कि कहानी का यह सुन्दर, सरल, रोचक एवं कलामय रूप बहुत अंशोंमें नाटकों के द्वारा

ही बन सका है। सच तो यह है कि यदि नाटक के ये सुन्दर उपकरण कहानियों से निकाल दिये जायँ, तो कहानी मनोरञ्जन का साधन न बनकर विरक्ति का साधन हो जाय।

यहाँ तक कहानी, नाटक एवं उपन्यास के विषयमें विचार प्रकट किया गया। समता और विभिन्नता को सामने रखा गया। किन्तु तुलना की एक वस्तु अभी भी बच रही है जिसे प्रायः अधिकतर लेखक अकारण ही छोड़ देते हैं। यह उपकरण हमारा गीति-काव्य है। कहानी की कला गीति-कविता से अधिक मात्रा में मिलती-जुलती होती है। दोनों ही व्यक्तिप्रधान सृष्टियाँ हैं। गीति-काव्य में जिस प्रकार कवि एक ही भावना को प्रश्रय देता है, उसी प्रकार कहानीकार भी कहानियों में भावना की एक ही धारा बहाता है। सभी दृश्यों को तो वह मतलब गाँठने की सामग्री के रूप में लाता है। 'प्रसादजी' की 'स्वर्ग के खड़हर में' शीर्षक कहानी प्राकृतिक दृश्यसे ही प्रारम्भ की गयी है। "वन्य कुसुमों की झालरें सुख-शीतल पवनसे विकंपित होकर चारों ओर झूम रही थीं।" 'प्रसादजी' का उद्देश्य पाठकों के हृदय में सौंदर्य की अबाध धारा बहाने के सिवा कुछ नहीं है। वह पाठक को दृश्य के वर्णन-द्वारा स्थिति के लिए तैयार करते हैं। कहानी की तरह ही गीति-काव्य में भी फालतू वस्तुओं का नितान्त अभाव रहता है। फलस्वरूप मार्मिकता का अत्यधिक समावेश हो जाता है, जो कला की दृष्टि से श्रेष्ठ कोटि की सामग्री हो जाती है।

अब कहानी के उपकरणों की ओर दृष्टि दौड़ायी जाय। एक ही लक्ष्य या भाव की अभिव्यक्ति करना कहानी की सर्वप्रथम विशेषता है। पाश्चात्य देशों में पहले अमेरिका ही इसकी क्रीड़ास्थली था। एडगर एलेन पो, हाथर्न तथा ब्रेडहर्ट इसके प्रधान आचार्य हो चुके हैं। इनमें भी कहानी को अविकसित उपन्यास, नाटक इत्यादि के गर्भ से निकालने का श्रेय 'पो' को ही है। 'पो' ने ही सर्वप्रथम कहानी को

उपन्यासों से भिन्न बताया तथा इसके उपकरणों को निश्चित किया। 'पो' ने एक स्थान पर लिखा है कि यदि कलाकार कुशल है, तो वह पहले कहानी का घटनाचक्र तैयार कर उसमें विचारों की शृंखला जोड़ देने की गलती कभी न करेगा। सबसे पहले वह एक लक्ष्य की कल्पना करेगा और पुनः उसकी पूर्ति के लिए घटनाओं की सृष्टि करेगा। वह अपने वस्तुओं को इस रूप में सजावेगा कि अपने लक्ष्य के प्रभाव को सफलतापूर्वक व्यंजित कर सके। यह सफल व्यंजना उसके पहले ही वाक्य पर निर्भर करती है। यदि कहानीकार पहले ही वाक्य में प्रभाव जमाने में सफल हो गया, तो वह इसी प्रभाव के बदौलत अपने लक्ष्य तक पहुँच जायगा अन्यथा 'प्रथमग्रासे मक्षिकापात:' वाली कहानी चरितार्थ होगी और सारा गुड़ गोबर हो जायगा। अतः सारी कहानी में एक भी ऐसा शब्द या वाक्य न आवे, जो कहानी को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में निश्चित लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक न हो। कलाकार का यह मुख्य उद्देश्य होना चाहिये और इसकी पूर्ति ही कहानी की पूर्ति है।

कहानी का दूसरा उपकरण घटना और पात्र है। घटना और पात्र को समझने के लिए हमें एक बार फिर नाटकीय उपकरणों की ओर ध्यान देना होगा। फ्रांस में प्रचलित नाटकसंकलन सम्बन्धी विषयों पर विचार करने से मालूम होता है कि नाटक में एक ही वस्तु का विन्यास एक ही स्थान पर तथा एक ही दिन में होना चाहिये। वस्तु, स्थान और काल, इन तीनों का समावेश कहानी में भी किया गया और इसका नियम यह बना कि छोटी कहानी एक ही घटना, एक ही भाव, एक ही दृश्य और एक ही पात्र का चित्रण कर सकती है। यद्यपि इनका अक्षरशः पालन तो नहीं ही किया गया, पर फिर भी इस में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए। आकर्षण उत्पन्न करनेवाली विविध नाटकीय सामग्रियों की योजना की गयी। नाटक की भाँति कहानी को

भी इस तरह सजाया जाने लगा कि नाटक की पाँच सीढ़ियाँ कहानी में प्रकट होने लगीं--जैसे क्रिया के बीच में घटना का उत्थान। पुन: चरमावस्था और फिर पतन की लड़ी सजायी गयी और इसी प्रभावशाली घटना चक्र के अन्तर्गत पात्रों का भी चित्रण किया गया। इस प्रकार घटना और पात्र एक दूसरे पर आधारित हो गये और इनके सम्मिलित उत्थान-पतन के द्वारा कहानी में नाटकीय चमत्कार सन्निहित किया गया।

कहानी का तीसरा उपकरण कल्पना और भाव है। कल्पना साहित्यकारों की अमूल्य वस्तु रही है और इसी के बल पर वे आज तक अनुपम सौंदर्य की सृष्टि करते रहे हैं। कहानी में भी यह कल्पना अत्यावश्यक है। सरस कल्पना के बिना कहानी निर्जीव हो जाती है। भावों की अभिव्यक्ति भी कहानी में पूर्णरूप से होनी चाहिये। क्योंकि कल्पना से सौंदर्य की सृष्टि होती है और भाव से आनन्द की। दोनों ही शाश्वत वस्तुएँ हैं और कहानी को स्थायी बनाने में सहायता पहुँचाती हैं। पवन के स्पर्श से सुमन की पँखुड़ी खुल जाती है। कल्पना के स्पर्श से उसकी कला खिल जाती है।

चतुर्थ उपादान कहानी में प्रेम का समावेश है। संसार के किसी भी देश का कथा-साहित्य लिया जाय, उसका श्रेष्ठ आधार प्रेम ही है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि प्रेम के समावेश के बिना कहानी लिखी ही नहीं जा सकती, बल्कि यह कि संसार की अधिकतर कहानियाँ प्रेम पर ही आश्रित हैं। और सचमुच में कहानियों में यदि प्रेम की भावना का समुचित रूप में निर्वाह किया जाय, तो वह सर्वश्रेष्ठ कहानी होगी। प्रेम सत्य है। प्रेम से ही आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। प्रेम कहानी का सर्वश्रेष्ठ उपकरण है।

प्रेम से मेरा तात्पर्य आज की कहानियों में व्यंजित सस्ते रोमान्सों

से नहीं है, जिनसे 'माया' और 'मनोहर कहानियाँ, जैसी एक दर्जन कूड़ा-पत्रिकाओं की फाइलें भरी रहती हैं। इन कहानियों में तो केवल वासना और लिप्सा को प्रश्रय दिया जाता है। ये पत्र-पत्रिकाएँ पाठकों को मानस-मैथुन की सामग्री प्रस्तुत करती हैं। प्रेम में तो अशान्ति और असंयम की गुंजायश ही नहीं। उसमें अनन्त आशा और अनूठी प्रतीक्षा रहती है। प्रेम कभी भी घटता-बढ़ता नहीं। वह शिशु-हृदय के समान पवित्र होता है। आकाश के समान व्यापक और ज्योत्स्ना के समान निर्मल होता है। सच्चे प्रेम से दिव्य भावनाओं की उत्पत्ति होती है। कहानीकार जब आत्मा के सौन्दर्य को बाहर के सौन्दर्य से एकाकार कर देता है, तभी उसकी कुशलता प्रकट होती है। किसी सुन्दरी के मुख-मंडल की कांति, यौवन की छटा, वक्षस्थल के उभार आदि ही सौंदर्य नहीं हैं, भक्ति, त्याग, दान आदि इससे अधिक सुन्दर, साथ ही महत्वपूर्ण हैं। सच्चा कहानीकार आन्तरिक सौन्दर्य को व्यंजित करने के लिए ही बाहरी सौन्दर्य का सहारा लेता है। वाह्य सौन्दर्य क्षणिक है, आन्तरिक सौंदर्य शाश्वत। प्रेम, जो बाहरी सौंदर्य पर आधारित होता है, प्रेम नहीं है, अन्तर पर आधारित प्रेम अमर है।

सच्चे प्रेम का कहानियों में निर्वाह होना अत्युत्तम है। साहित्य में प्रेम की आवश्यकता है। साहित्य जीवन का चित्र है और प्रेम जीवन की सार वस्तु है। अतः प्रेम कहानी का एकमात्र उपादान है।

'पठान का बेटा' में श्रीयुत् कामता प्रसाद 'काम' का पठान ऊँट के बच्चे से प्रेम करता है, साथ ही अफरीदी का तो वह प्राण ही है। बच्चे के मर जाने के बाद दोनों में किसी का प्रेम कलुषित नहीं होता। एक कहता है मेरा मरा। दूसरा कहता है—मेरा मरा। धन का प्रेम उन्हें नहीं सताता। उन्हें बच्चे का प्रेम सता रहा है। दोनों का प्रेम पवित्र है। किसी में अशान्ति एवं असंयम की गुंजायश नहीं। पठान

तो खुदा की ओर हाथ जोड़ उस अनंत की ओर से आशा-संचार की प्रतीक्षा करने लगता है। नदी में हजार की थैली को फेंककर तो पठान अपने प्रेम को अमर-लोक का अधिकारी बना लेता है। इसी प्रेम को कहानियों में व्यंजित करना चाहिए। यह कहानियों का अमर तत्व है, न कि 'माया' और 'मनोहर कहानियों' के चौराहे और उपवन की आँख मिचौनी।

कथानक भी कहानी की खासी सामग्री है। कनाथक लेखक के अनुभव की उपज है। लेखक किसी भी परिस्थिति से कथानक चुन सकता है। इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। जीवन से सम्बन्धित किसी भी वस्तु पर सुन्दर-से-सुन्दर कहानी की सृष्टि की जा सकती है। समस्त संसार का कथा-साहित्य इस बात की पुष्टि करता है; किन्तु फिर भी कल्पनात्मक तथा भावात्मक कहानियाँ अधिक रोचक होती हैं। जिस किसी कहानी में भी किसी रहस्य या पहेली को सुलझाने की चेष्टा की जाती है, उसमें रोचकता और आकर्षण की मात्रा बढ़ जाती है।

कुछ लोगों का कहना है कि साहित्य में वेदना-तत्व का समावेश किये बिना आनन्द की कल्पना करना दुर्लभ है। बात वास्तव में ठीक है। यदि वेदना न रहे, तो जीवन में आनन्द और माधुर्य रहें ही नहीं। हम दुख का अनुभव करते हैं, इसलिये हमें सुख अच्छा लगता है। यदि केवल सुख ही सुख रहे, तो शायद मनुष्य दुःख के लिए लालायित हो उठे। वेदना बड़ी ही मोहक, सरल एवं सुन्दर होती है। शायद इसीलिए शैली अचानक बोल उठा था—"वे ही गीत सबसे अधिक प्रिय हैं, जो वेदनामय भावों से ओतप्रोत हों।"

दुख किसी को प्रिय नहीं, किन्तु फिर भी इससे मुक्ति नहीं पायी जा सकती। लोग दुःख में लिपटे हुए रहते हैं। सारा जीवन इसीके क्षेत्र में व्यतीत कर देते हैं, फिर भी इसके नाम से घबराते हैं। कवि

इसे वास्तविक रूप में पहचानता है। अतः वेदनाओं से दूर होकर सुख की सीमा में पाँव रखना नहीं चाहता। आदि कवि वाल्मीकि के मुख से भी सर्वप्रथम वेदना की ही मधुर मन्दाकिनी फूट निकली थी।

अन्तिम उपकरण कहानी में हास्यरस का समावेश है। इसे लोगों ने हल्का साहित्य माना है। बहुत लोगों का तो विचार है कि कहानी का अर्थ मनोरंजन है। यदि मनबहलाव की सामग्री उचित मात्रा में कहानियों में नहीं रही, तो वह शायद कहानी नहीं हो सकती; कुछ और ही हो गयी। उपदेश देना तो सर्वथा हेय मनोवृत्ति है। इसलिये हास्य का भी यदि कहानियों में उचित मात्रा में निर्वाह हो, तो उत्तम है। यथार्थ जीवन में भी हास्य का स्थान सर्वोच्च है।

कहानी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ

कहानी की प्रणाली और प्रवृत्तियों के विषय में लिखते हुए एक बार आर० एल० स्टीवेन्सन (R. L. Stevention) ने अपने मित्र को लिखा था—'जहाँ तक मैं जानता हूँ, कहानी लिखने के तीन और केवल तीन ही तरीके हैं। एक में तो सोचे-विचारे कथानक में पात्रों को बैठा दो, दूसरे में पात्रों को पहले लेकर उनके चरित्र-विकास के लिए घटनाएँ और परिस्थितियाँ चुनो और तीसरे में किसी विशेष वातावरण की दुहाई देने के लिए घटना और पात्र एकत्र करो।" किन्तु मेरे विचार से ये तीनों तरीके कला के सच्चे परिचायक नहीं हैं। तीनों कृत्रिमता लिए हैं। इसलिये इन तीनों प्रवृत्तियों में एक को अपनानेवाला भी सफल कहानी-लेखक नहीं हो सकता। कारण स्पष्ट है। कथानक की ओर विशेष ध्यान देने-वाला घटनाचक्र को भूल जायगा। घटनाचक्र को आगे बढ़ानेवाला चरित्र-विकास सम्यक् रूप से नहीं कर सकता और चरित्रों के विकास पर जोर देने से घटना शिथिल पड़ जायगी। अतः कहानी की रचना में समग्रता पर विशेष ध्यान देना चाहिए। किसी एक उपादान, सम-वेदना, प्लाट, परिस्थिति और पात्र पर अधिक ध्यान देने से कहानी का सामंजस्य नष्ट हो जाता है और समग्रता जाती रहती है। सब उपादानों

का विकास इस रूप में होना चाहिए कि सबों की पुष्टि हो। सामंजस्य के अभाव के कारण ही कोई कहानी घटना-प्रधान, कोई भाव-प्रधान, कोई चरित्र-प्रधान तथा कोई वर्णन-प्रधान हो जाती है।

कहानियों की प्रवृत्तियों के विषय में निश्चित धारणा बनाना अत्यन्त कठिन है। फिर भी हमारे यहाँ अधिकतर कहानियाँ नैतिक और शिक्षाप्रद ही लिखी जाती हैं। लेखक अपना मनोभाव पाठकों पर लादना चाहता है। यदि लेखक बाल-विवाह का विरोधी और विधवा-विवाह का समर्थक है, तो वह बाल-विवाह करने के बुरे नतीजे और विधवा-विवाह न करने से उपजे दुष्परिणाम की ओर संकेत करेगा। किन्तु इससे कहानी का उद्देश्य नहीं सधता। कहानी तो एक कला है, और कला किसी सीमा में बाँधी नहीं जा सकती। यदि पाठक उपदेश ही पढ़ना चाहेगा, तो वह कहानियों के पढ़ने के बदले धर्म-ग्रन्थों को क्यों नहीं पढ़ लेगा। इस प्रकार कहानियों में शिक्षा देने की मनोवृत्ति कला की दृष्टि से अत्यन्त हेय मनोवृत्ति है। कवीन्द्र रवीन्द्र की कहानियों में उपदेश नहीं मिलते। प्रसिद्ध रूसी कहानी-लेखक टालस्टाय ने एक कट्टर नीतिवादी होते हुए भी नैतिकता की दुहाई नहीं दी। मोपांसा और गोर्की की कहानियों में शिक्षा का एक दम अभाव है। प्रसिद्ध भारतीय कलाकार प्रेमचन्द की कहानियों की सफलता उनकी शिक्षा न .देने की मनोवृत्ति ही है।

माना कि प्राचीन काल की कहानियों में एक नैतिक सत्य है। हितोपदेश, पंचतन्त्र, पुराण इत्यादि की कहानियाँ एक नैतिक सत्य लिये ; चलती हैं, किन्तु हमें साथ ही यह भी सोचना चाहिए कि तब और अब में आकाश-पाताल का अन्तर है। पुराण और उपनिषद् लिखने-वालों ने धर्म के भाव-मूलक सिद्धान्तों को स्थूल रूप देने के लिए ही कहानियों की सृष्टि की थी। उस समय के पाठक शिक्षा लेने के लिए ही कहानियाँ पढ़ते थे। पर आज का पाठक शिक्षा लेने की भावना

रखकर कहानी पढ़ने नहीं बैठता। वह कम-से-कम समय में अपने थके हुए मस्तिष्क का मनोरंजन करना चाहता है। प्रसिद्ध कहानीकार जैनेन्द्र की एक युक्ति हम आप लोगों के सामने रखते हैं।—'हमारे अपने सवाल होते हैं, शङ्काएँ होती हैं, चिन्ताएँ होती हैं और उनका उत्तर, उनका समाधान खोजने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे प्रयोग होते रहते हैं। कहानी एक खोज के प्रयत्न का उदाहरण है। उदाहरणों और मिसालों की खोज होती रहती है। वह एक उत्तर ही नहीं देती, अपितु कहती है कि उत्तर शायद इस रास्ते से मिले। वह सूचक होती है, कुछ सुझा देती है और पाठक अपनी चिन्तन-क्रिया के द्वारा इस सूझ को ले लेते हैं।''

अत: जैनेन्द्र के अनुसार यह निद्वन्द्व प्रमाणित हो जाता है कि लेखक पाठकों के सुझाने का ही अधिकारी है, लादने का नहीं। कहानी-कला की सच्ची सीमा किसी बात को सुझाने तक ही है। कहानी का मूल्यांकन उनकी उपादानों की महत्ता, कथानक की सम्बद्धता, पात्रों का शक्तिशील होना, उनका देशकालोचित चित्रण तथा मनोरंजक शैली में है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में तो जैसे कहनियों की बाढ़-सी आ गयी है। किन्तु उनमें कलापूर्ण वस्तु कम ही है। अभी हमारे कहानी-साहित्य का शैशव है। यदि हम कहानी-साहित्य पर एक सरसरी निगाह दें, तो देखेंगे कि कहानी-साहित्य की विशेष प्रगति विगत पचीस वर्षों के अन्दर ही हो पायी है, और प्रवृत्तियाँ भी एक न रहकर भिन्न-भिन्न रही हैं, जिनका हमें अलग-अलग अध्ययन करना होगा।

हिन्दी में कहानी-साहित्य का वास्तविक युग १८०३ में इंशा-अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' से आरम्भ होता है और भारतेन्दु-युग में तीव्र रूप से पुष्पित-पल्लवित होता है। सन् १९०० से हम कहानी का प्रथम उत्थान ले सकते हैं, जब सरस्वती का

प्रकाशन आरम्भ हो जाता है। इसमें बहुत-सी मौलिक कहानियाँ लिखी तथा बंगला से अनुवाद की जाती हैं। सन् १९०९ से कहानी का द्वितीय 'युग' आता है। 'इन्दु' काशी से प्रकाशित होने लगती है। 'प्रसाद' जी की निर्मायिका प्रतिभा उनके भीतर ओज मार रही है। 'इन्दु' इनकी प्रयोगशाला बनी। इस युग के प्रतिनिधि लेखक श्री प्रसाद, श्री प्रेमचन्द, श्री कौशिक, श्री गुलेरीजी, तथा श्री चतुरसेन शास्त्री हमें विगत महायुद्ध के अन्त तक पहुँचा देते हैं।

तीसरा उत्थान या कहानी का आधुनिक युग, जिसकी प्रवृत्तियों पर हमें विशेष ध्यान देना है, १९२० के बाद आया। यह युग अहिंसा-मूलक संग्राम का युग था तथा राष्ट्रीयता से ओतप्रोत था। प्रेमचन्द, प्रसाद और सुदर्शन की लेखनी काफी प्रौढ़ हो चुकी थी और अब वे एक-से-एक अनोखा दान हिन्दी साहित्य को दे रहे थे।

बाबू जयशंकर प्रसाद का कहानी-लेखकों में प्रमुख स्थान है किन्तु एक कवि होने के नाते अपनी कहानियों में कल्पना की उड़ान तथा काव्य का माधुर्य भरने से वे अपने को सम्हाल नहीं सकते। साथ ही साथ काव्य की तरह कहानियों में भी किसी बात की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म व्यंजना करने लगते हैं, जिससे पाठकों को समझना आसान नहीं होता। सौन्दर्य-सृष्टि तथा बौद्ध-कालीन ऐतिहासिक घटनाओं का कहानियों में समावेश करने की प्रवृत्ति बनी रहती है। कभी-कभी सौन्दर्य-सृष्टि में इस प्रकार तन्मय हो जाते हैं कि घटनाचक्र, पात्र इत्यादि का समुचित विकास जैसे भूल जाते हैं। अतः कल्पना की उड़ान बेलगाम हो जाती है और कहानी कहीं-कहीं गद्य-काव्य बन जाती है।

प्रसादजी की प्रवृत्ति प्राचीनता को अपनाने की है। ऐतिहासिक बौद्धकालीन घटनाओं को ही वे विशेषतया अपनी कहानियों का क्षेत्र चुनते हैं। भावुक होने के नाते भावुकता की उग्र धारा का प्रभाव देखा

आता है। पात्रों में अन्तद्वन्द्व की भावनाएँ दर्शाने में भी प्रसादजी कम सिद्धहस्त नहीं हैं। इनकी कहानियाँ मानवीय भावनाओं के घात-प्रतिघात तथा अविराम संघर्ष से भरी पड़ी हैं। प्रत्येक कहानी के अन्तराल में करुणा और सहानुभूति की अविरल धारा प्रवाहित होती रहती है। मनोवैज्ञानिक चित्रण भी इनकी अपनी चीज है।

श्री प्रेमचन्द उर्दू-साहित्य में बहुत पहले से लिख रहे थे; अतः काफी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। इनके आगमन से हिन्दी-साहित्य ने एक नयी चीज का अनुभव किया। प्रेमचन्द आदर्शवादी और प्रत्यक्षवादी दोनों थे। और वास्तविक में यथार्थवाद को न अपनाने से कहानी में स्वाभाविकता आती भी नहीं। किन्तु इसका विरोध करना भी कुछ हद तक ठीक है, क्योंकि अधिक लेखक इसे अच्छी तरह निभा नहीं सकते; हालाँकि प्रेमचन्दजी ने इसे बड़ी खूबी से निभाया है। इनकी कहानियाँ वैसी ही हैं, जैसे दो आदमी आपस में बात कर रहे हों। कहानी लिखने की यह प्रवृत्ति सचमुच सराहनीय है। जटिलता तो कहानी की हत्या कर देती है। कहानी की भाषा सरल, सुन्दर, चुस्त और हृदयग्राही होना चाहिए। एक प्रत्यक्षवादी के नाते सत्य को कहानियों या उपन्यासों में स्थान देने की प्रवृत्ति प्रेमचन्दजी की अपने ढंग की एक है। इसमें आपका 'गोदान' सबसे सफल है।

किन्तु गुणों के साथ प्रेमचन्दजी की कुछ ऐसी भी प्रवृत्तियाँ हैं, जो सर्वथा सराहनीय नहीं हैं। स्त्रीचरित्र का पतन दिखाना आपको नागवार मालूम होता है। हिन्दू-मुसलमानों में धर-बाँधकर एकता स्थापित करना चाहते हैं, जिसको पढ़कर तो पाठक कहीं-कहीं ऊब जाता है। अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए कहीं-कहीं आप उपदेशक भी बन जाते हैं। निरुद्देश कहानियाँ आपके विचार में निकृष्ट कहानियाँ थीं। किन्तु कहानी का उद्देश्य तो आनन्द प्रदान करना है। जबरन उसमें शिक्षा घुसेड़ना ठीक नहीं।

सुदर्शनजी की कहानियाँ अपने ढंग की अकेली थीं। भाषा आपकी चुस्त और हृदयग्राही थी किन्तु प्रेमचन्द की उपदेशात्मक प्रवृत्ति को आप नापसंद करते थे। आप अपने साथ वद्रोहात्मक प्रवृत्तियाँ लाये। 'तूफानों का-सा वेग, ज्वालामुखी का सा ताप और भूकम्प जैसी अशान्ति आपकी भाषा में मौजूद हैं। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की कहानियों में एक नयी सूझ थी। वे कहानियों में देहाती चित्र खींचना पसन्द करते थे। राय कृष्णदास ऐतिहासिक और सामाजिक कहानियाँ लिखते थे। उग्रजी की कहानियों के अन्तराल में कामुकता की धारा प्रवाहित होती रहती है। इनकी प्रवृत्तियाँ सेक्स (Sex) पर प्रकाश डालने की ओर विशेष थीं, किंतु कहानियों में इन्होंने आवेग और उद्वेग इतना भर दिया कि उससे कोई स्वस्थ निष्कर्ष न निकल सका।

श्री जैनेन्द्र की कहानियाँ मौलिक होती हैं। इन्होंने उग्रजी के सेक्स (Sex) को न अपनाकर इसका एक नया पहलू हमारे सामने रखा। ये आदर्शवादी नहीं है किंतु फिर भी दार्शनिकता की सूक्ष्म से सूक्ष्म व्यंजना अपनी कहानियों में करना चाहते हैं। तत्स्वरूप कहानी का गला घुट जाता है और कहानी कहानी के बजाय ऋषि की ब्रह्म-गीता हो जाती है। श्री भगवतीचरण वाजपेयी की कहानियाँ आदर्श और यथार्थ की संधिवेला पर हैं। ये युग की उपज कही जाएँगी। आपमें सामाजिक कुरीतियों को दूर करने की विशेष मनोवृत्ति है। विनोद-शंकर व्यास अपनी कहानियों में जीवन के छोटे-छोटे मार्मिक चित्र अंकित करते हैं। ऋषभचन्द जैन की प्रवृत्ति उग्रजी की प्रवृत्ति है। कहानियों में नग्न यथार्थवाद का चित्र अंकित करना इन्हें पसन्द है। भगवतीचरण वर्मा की कहानियाँ विद्रोहात्मक होती हैं। शिष्ट हास्य-पूर्ण कहानी लिखने में श्री अन्नपूर्णानन्दजी काफी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। जी० पी० श्रीवास्तव के जैसा इनका हास्य अशिष्ट नहीं

होता। अज्ञेय की कहानियाँ कम हैं, किन्तु सुन्दर हैं, शैली अन्यतम है। प्रभाकर माचवे पर जैनेन्द्र का काफी प्रभाव है; अत: शैली दुरूहता लिये है। इधर श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और श्री सियारामशरण गुप्त भी कहानी-क्षेत्र में आ गये हैं। गुप्तजी की कहानियों में समाज के सच्चे मार्मिक चित्र हैं। निरालाजी की कहानियाँ सामाजिक, पर व्यंग्यात्मक ढंग की होती हैं। श्री राजेश्वरसिंह और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' अच्छी कहानियाँ लिखते हैं। इनकी कहानियाँ आधुनिक युग की भाव-धाराओं से परिपूर्ण हैं। हंसकुमार तिवारी की कहानियाँ साम्यवाद की प्रचारक हैं तथा सामाजिक भावनाओं से ओत-प्रोत हैं।

श्री कामता प्रसाद 'काम' की सभी कहानियाँ मौलिक होती हैं। एक ही प्रकार की कहानियाँ पढ़ते-पढ़ते जिन पाठकों का मन ऊब जाता है, उन्हें इनकी विविधता सन्तोष एवं आनन्द देती है। गोकि इन्होंने प्रेम का राग नहीं अलापा है, फिर भी सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को नवीन रूप में छूते समय इन्होंने हृदय का एकदम वहिष्कार भी नहीं किया है। इनकी कहानियाँ समसामयिक पत्र-पत्रिकाओं में बराबर प्रकाशित होती हैं। 'पठान का बच्चा' इन की कहानियों में सर्वश्रेष्ठ है। पठान और अफरीदी दोनों ही अपने ईमान पर जूझने को तयार हो जाते हैं। यहाँ तक कि पठान को ऊँट के बच्चे के मरने के बाद भी रुपये की थैली फेकते देर नहीं लगती। कहानी अन्तिम पराकाष्ठा पर पहुँच कर पाठकों के हृदय में एक द्विधा (Suspense) लिये समाप्त हो जाती है।

इसके अतिरिक्त पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी', आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री, सर्वश्री यशपाल, पन्त, सुधांशु, पहाड़ी, आरसी, राधाकृष्ण, सिद्धेश्वर प्रसाद सिंह आदि ने समयाभाव से कम लिखने पर भी हिन्दी-साहित्य को जो कुछ दिया है, वे हिन्दी के भण्डार में सब रत्न के रूप में हैं।

कहानी-साहित्य के उत्थान में महिलाओं ने भी काफी प्रशंसनीय कार्य किया है। सुश्री सुभद्राकुमारी चौहान ने नारी-हृदय की भावनाओं का मार्मिक चित्र अपनी कहानियों में अङ्कित किया है। सुश्री शिव-रानी प्रेमचन्द पतिदेव की तरह अधिक सामाजिक उत्थान-पतन की कहानियाँ लिखती हैं। ऊषा देवी मित्रा भी समाज के संघर्ष में अपना पैर काफी मजबूती से जमाये हुई हैं। सुश्री होमवतीजी की लेखनी आजकल काफी चालू है। आप एक समाज-सेविका के रूप में आदरणीय हैं।

ये हैं आधुनिक कहानी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ। किन्तु परिस्थिति बड़ी तीव्रता से बदल रही है। समाज नाना प्रकार के उत्थान पतन प्रतिदिन देख रहा है। विश्व-साहित्य के सम्पर्क में आधुनिक साहित्य बौध-साहित्य में प्रभावित हो रहा है। इधर समाजवाद भी काफी जोर पकड़े हुए है। लोग रूसी साहित्य का अध्ययन बड़े विशद रूप में कर रहे हैं। यह रूसी-साहित्य का समाजवाद हिन्दी के क्षेत्र में प्रगतिवाद के नाम से विख्यात हो रहा है। यद्यपि प्रगतिवाद अपने शैशव में है, तथापि अब हम इसे निर्मूल करने का स्वप्न भी नहीं देख सकते। हमारे उपन्यास और कहानियाँ आज विशेष इसी प्रगतिवाद की ओर चल रही हैं। रोटी और सेक्स इनकी दो मुख्य समस्याएँ हैं जो आज प्रधानता पा रही हैं। कहानी-साहित्य की भविष्य की प्रवृत्तियाँ समय के हाथ में है।

हमारा उपन्यास-साहित्य

"The moment men and women begin to think about the affairs of other men and women, there are the raw materials of the fiction".

—Hudson

उपन्यास की सृष्टि उसी समय प्रारम्भ हो जाती है, जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के कार्य-कलापों के सम्बन्ध में सोचना प्रारम्भ कर देता है।

—हडसन

किन्तु यह परिभाषा कुछ अस्पष्ट-सी लगती है और इसके अनुसार कविता और उपन्यास में कोई भेद नहीं रह जाता। इसलिए उपन्यास को यदि हम जीवन की स्वाभाविक, मनोरंजनकारी घटनाओं का गद्यशैली में एक समष्टि-चित्र कहें, तो असंगत न होगा। उपन्यास की सृष्टि से जीवन के विषाद को स्वीकार करने का खासा मौका मिला। नीति और धर्म के नीरस सिद्धान्तों को हृदय-ग्राही बनाने में सफलता मिली तथा नैसर्गिक सिद्धान्तों को सन्तुष्ट करने का सफल साधन मिला।

मनुष्य में दो तरह की वृत्तियाँ पायी जाती हैं—एक कुतूहलवृत्ति और दूसरी रमणवृत्ति। एक चौराहे पर भीड़ लगी है। आपको भीड़ का कारण जानने की जिज्ञासा होगी। आप मारे कुतूहल के पूछेंगे और यदि मालूम हो गया कि कोई मोटर से दब गया है, तो सम्भव है, आप भी उसे अस्पताल पहुँचाने में मदद दें। आपकी यह क्रिया रमण-वृत्ति के कारण होगी। आपका हृदय करुणाभाव से रमने लगेगा। इन्हीं दो वृत्तियों की परितुष्टि के लिए साहित्य में दो तरह की रचनाएँ प्रस्तुत हुईं। जिनमें कुतूहल की प्रधानता और रमण की गौणता रहीं, वे घटना-चमत्कार को लेकर आगे चलीं और जिनमें रमण की प्रधानता और कुतूहल की गौणता रही, वे भावानुभूति को लेकर आगे बढ़ीं। किसी कवि-सम्मेलन में कविता को बार-बार पढ़ने का अनुरोध करना उसकी रमण-वृत्ति के ही कारण है। श्रोता उसके भावों में रमता है—झूमने लगता है। किन्तु किसी उपन्यास को एक बार पढ़कर फिर पढ़ने की जिज्ञासा शायद किसी को नहीं होती। इसका एकमात्र कारण यह है कि उपन्यास में कुतूहल-वृत्ति प्रधान है और पाठक केवल यह जानना चाहता है—"आगे क्या हुआ?" और ज्यों ही वह उपन्यास समाप्त कर लेता है, उसकी जिज्ञासा समाप्त हो जाती है। उसके कुतूहल की शृंखला भंग हो जाती है और वह दुहराने का नाम भी नहीं लेता। नाटक की भाँति उपन्यास में भी एक कहानी होती है। कहानी में प्रायः पाँच चीजें अनिवार्य हैं। घटना, चरित, कथोपकथन, स्थान-काल और शैली। उपन्यास में भी ये सभी चीजें वर्त्तमान रहती हैं। इसके अलावा एक और, लेखक का अपना व्यक्तिगत दृष्टि-कोण, जो दोनों को एक दूसरे से अलग करता है। जिस कहानी में लेखक का अपना विशेष दृष्टिकोण व्यक्त नहीं हुआ, देखी हुई दुनिया की व्याख्या नहीं की गयी, वह उपन्यास नहीं हुआ—कुछ और ही हुआ।

उपन्यास और नाटक, दोनों के वाङ्मय में घटना का होना अनिवार्य है, वर्णन चाहे जिस रूप में हो, कथोपकथन में या वर्णन में। भिन्नता केवल इतनी ही है कि उपन्यास के अन्तर्गत रंगमंच की व्याख्याएँ कल्पना के अन्तर्गत होती हैं। इनका अस्तित्व पार्थिव जगत से नहीं, वरन् पाठकों के हृदय से होता है। नाटक को रंगमंच की आवश्यकता होती है और रंगमंच उपन्यास के साथ अदृश्य रूप से चलता है। आधारतत्व एक होते हुए भी एक वर्णनात्मक है, एक अभिनयात्मक। एक अँगरेज लेखक ने दोनों की भिन्नता इस प्रकार बतलायी है :—

A novel is an interpretation of the life under the stress of emotion in narration......while a drama is the interpetration of life under the stress of emotion in representation.

अन्य साहित्यांगों की तुलना में उपन्यास-साहित्य अभी बिलकुल शैसव-सा लगता है। इसका जन्म भारत के छापे की मशीन के साथ हुआ कहा जा सकता है। यों तो बैतालपचीसी और सिंहासन-बतीसी जैसी कहानियाँ पहले से भी प्रचार में थीं, फिर भी उपन्यासों का जन्म अपेक्षाकृत नवीन है। यों तो वेद में रवि, इन्द्र, वरुण इत्यादि विविध देवताओं की प्रार्थनाओं में जो ऋचाएँ दी गयी हैं, उनमें भी घटनाओं के साथ वर्णनात्मकता है, किन्तु कुतूहल और मनोरंजन का सर्वथा अभाव है, जो उपन्यास की मूल वस्तु है। बृह-दारण्यक उपनिषद् में गार्गी और याज्ञवल्क्य में जो संवाद है, उसमें कथानक के बीज भी निहित हैं। ब्रह्मजिज्ञासा की विचार-धाराएँ स्पष्ट हैं, किन्तु कुतूहल का सर्वथा अभाव है। और, उपन्यास जो थके मस्तिष्क को आनन्द देने के लिए लिखे जाते हैं, वेदांत के रूप में परिणत हो जाते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में गुणाढ्य ने बृहत्कथा

और सोमदत्त ने कथा-सरित्सागर की रचना की। किन्तु ये भी नीति के प्राचीन ग्रन्थों पर मर्यादा की शृंखलाओं से जकड़े हुए और उपन्यास के तत्वों से सर्वथा दूर थे। बारहवीं शताब्दी से लेकर इस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन तक भारत आगन्तुकों की लीला-भूमि ही रहा, अत: नये मेहमानों को अपनी भाषा से परिचित कराने के लिए आख्यायिका या छोटी-छोटी कहानियों की आवश्यकता हुई। कहानियों के कारण दुरूह भाषा भी बोधगम्य हो जाती है। अत: इंशा अल्ला खां ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी और सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान। दोनों उपन्यास भले न हों, किन्तु उपन्यास का पूर्व रूप इनमें वर्तमान है।

हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा-गुरु' है। पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'सौ अजान और एक सुजान' लिखा, किन्तु इन दोनों उपन्यासों में भाषा और व्यंजना का चमत्कार नहीं है। ''किस्सा तोता मैना' की तरह मनोरंजन की सामग्रियाँ ही हैं, अत: लोगों का ध्यान पूरी तरह आकर्षित नहीं हो सकता।

जिस समय लाला श्रीनिवासदास 'परीक्षा-गुरु' का सृजन कर रहे थे, श्री देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी भी इसी क्षेत्र में प्रविष्ट हो रहे थे। खत्रीजी को 'बैतालपचीसी' और 'सिंहासन-बतीसी' से तिलिस्म का खजाना मिल चुका था और वे इसे आम जनता के बीच बिखेर देना चाहते थे। कुछ समयानन्तर इनकी 'चन्द्र-कान्ता' निकली और विद्युत-सी चारों ओर फैल गयी। बहुत-से लोगों ने हिन्दी इन्हीं उपन्यासों के लिए पढ़ी। कुतूहल-वृत्ति इतनी प्रखर थी कि पाठक पढ़ता जाता था और सोचता था—देखें आगे कौन-सा गुल खिलता है। किंतु कुतूहल होते हुए भी खत्रीजी के उपन्यास चरित्र-चित्रण से हीन, मनोविकारों से रहित और व्यक्तित्व-

प्रदर्शन से परे थे। खत्रीजी के बाद लोक-रुचि जासूसी उपन्यासों की ओर गयी। जासूसी उपन्यासों की प्रेरणा हमें अँगरेजी के जासूसी उपन्यासों से मिली। श्री गोपालराम गहमरी इसके सृष्टि-कर्ता हुए। खत्रीजी के ऐय्यारी और गहमरीजी के जासूसी उपन्यासों में कुछ मौलिक भेद हैं। खत्रीजी के पात्र साधारण जीवों से परे होते हैं। उनके पास दुनियावी बातों के साथ-साथ तिलिस्म की कुञ्जी रहती है—यहाँ तक कि वे 'लखलखा'—जैसे सिद्ध साधनों से सुसज्जित रहते हैं। वे साधारण बात करते-करते पाठक को मोह-जाल में फँसा लेते हैं और पाठक को एक ऐसी रहस्यमयी दुनिया में छोड़ आते हैं, जहाँ वह पूरे आश्चर्य में पड़ जाता है, जब कि गहमरीजी के पात्र इसी लोक के जीव होते हैं। कुछ रहस्य इनमें भी रहता है अवश्य; किन्तु रहस्य का उद्घाटन तर्क की शृंखलाओं के सहारे बुद्धि के द्वारा किया जाता है। उपन्यासों में अधिक व्यावहारिक प्रयोजन रहता है, न कि खत्रीजी के ऐसे पात्र केवल कल्पना में उड़ते और हवाई किले बनाते हैं। किन्तु दोनों के ही उपन्यास घटना-प्रधान रहे। मनोभावों का चित्रण भी बराबर था और पात्र जीवन को छूते नहीं, भागते दिखाई पड़ते थे।

किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी प्रेम के कोमल स्वरूप की रम्य मनहर झाँकी जो खत्रीजी ने स्थल-स्थल पर दिखलायी है, वह मानव-जगत् के लिए सर्वथा अभिनन्दनीय है। इनके प्रेम-चित्रण में कामुकता की ज्वाला नहीं, जो किशोरीलाल गोस्वामी तक में दिखलायी पड़ती है। इनके उपन्यास अधिकतर सामाजिक और ऐतिहासिक हैं। प्रेमतत्वों का उपन्यासों में पूरा-पूरा समावेश है; किन्तु इनपर लखनऊ के नवाबों की पूरी-पूरी छाप होने से प्रेम विलास और वासना से परिपूरित हो गया है।

गोस्वामीजी के बाद पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय, पं० लज्जाराम

मेहता तथा बाबू व्रजनन्दन सहाय का स्थान है। किन्तु ये तीनों सज्जन इस क्षेत्र को घूर कर ही कबड्डी के 'गूंगे' की तरह भाग खड़े होते हैं।

इसके बाद हम द्विवेदी-युग में प्रवेश करते हैं। बँगला-साहित्य से हमारा सम्पर्क बढ़ जाता है। इसके साथ-साथ हमें अँगरेजी-साहित्य से भी परिचय प्राप्त होता है क्योंकि बँगला-साहित्य पहले ही से अँगरेजी-साहित्य से प्रभावित हो चुका था। हमारी भावनाएँ भी बङ्गला-उपन्यासों के अनुकूल हो गयी थीं क्योंकि वातावरण पहले से ही तैयार था। आर्य-समाज ने सामाजिक आन्दोलन छेड़ दिया था। दहेज और विधवा-विवाह की कुप्रथा जनता के मन में घर कर चुकी थी, अतः बङ्गला-उपन्यासों के अनुवादों का हिन्दी में अत्यधिक स्वागत हुआ। जनता की बढ़ती हुई रुचि की तृप्ति के लिए हिन्दी में भी सामाजिक उपन्यासों का आविर्भाव हुआ और फलस्वरूप प्रेमचन्दजी के 'सेवासदन'-सा अमूल्य रत्न हमारे सामने आया। हिन्दू जनता निहाल हो गयी और फिर तो प्रेमाश्रम, रङ्गभूमि, कायाकल्प, कर्मभूमि, गबन और गोदान सम्मुख आये। जनता के उल्लास का ठिकाना न रहा।

अभी तक हम कल्पना के क्षेत्र में विचर रहे थे। प्रेमचन्दजी हमें यथार्थता के क्षेत्र में लाये। इन्होंने साहित्य और जीवन को समन्वित करके कथाओं में प्राण फूँका। इनके उपन्यासों में हमें जीवन की छोटी से बड़ी सभी घटनाओं के चित्र, समाज की सामयिक से लेकर शाश्वत समस्याओं का उद्घाटन और एक विचित्र वातावरण-सा मिला। इनके उपन्यासों में सभी वर्गों के पात्र मिले। यदि एक ओर राजा-रईस मिले, तो दूसरी ओर मजदूर-किसान भी। एक ओर 'मेहता' थे, तो दूसरी ओर 'होरी' था। घटना-वैचित्र्यमें जीवन की सभी समस्याएँ सम्मिलित कर ली गयीं। सेवासदन, कायाकल्प, निर्मला,

'प्रतिज्ञा' और 'गबन' सामाजिक अग्निकुण्ड से निकले। समाज की पोलखोलकर समाज के ही सामने रख दिया। 'रङ्गभूमि' और 'कर्म-भूमि' राजनीतिक हैं। 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' ग्राम्य जीवन की सभी घटनाओं के समष्टि-चित्र हैं। अतः प्रेमचन्द के रूप में हिन्दी-साहित्य को एक सच्चा औपन्यासिक मिला। कथा-प्रेमी चतुर कथाकार पाये। समाज-सुधारक निपुण आलोचक, स्त्रियाँ सच्चा संगी। किसान-मजदूर एक साहसी नेता।

'प्रेमचन्द' उच्च कोटि के आदर्शवादी हैं। यही कारण है कि अपने उपन्यासों की कथा-सामग्री चुनते समय वास्तविकता की उपेक्षा नहीं करते। साथ-ही-साथ यह भी ध्यान रखते हैं कि कहीं वास्तविकता अश्लील का रूप न धारण कर ले। अश्लीलता पर सर्वदा इनकी दृष्टि रही है और उपन्यासों को सर्वदा इससे बचाने का प्रयत्न किया है। 'सेवासदन' के सुमन को वेश्यालय में भेज कर भी, उसके घृणित व्यापार का वर्णन नहीं करते। 'कर्मभूमि' की मुन्नी के सतीत्व-अपहरण की बात मुन्नी के एक ही चीत्कार में प्रकट कर देते हैं।

'प्रेमचन्दजी' ने मानव-प्रकृति का एकदम स्वाभाविक चित्रण किया। भारतेन्दु-काल की आती हुई परिपाटी बदल दी। भला एक युग-निर्माता लकीर का फकीर कैसे बनता? एक उर्दू-लेखक होने के नाते प्रेमचन्दजी की भाषा में लोच और माधुर्य था, जिससे हिन्दी के क्षेत्र में आते ही उन्होंने चुपके से उड़ेल दिया। इनकी भाषा अद्वितीय है। ऐसी मार्मिकता, सहज स्वाभाविकता और सौन्दर्य अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। किन्तु फिर भी 'प्रेमचन्दजी' की कला, कला के लिए नहीं थी; समाज, देश, तथा जीवन के परिष्करण और उत्थान के लिए।

'कौशिकजी' ने कहानी-क्षेत्र में विशेष ख्याति पायी है। कहानी के तीन महारथियों में 'कौशिकजी' का भी एक स्थान है, और यह

आवश्यक नहीं कि एक सफल कहानीकार सफल उपन्यासकार भी हो। फिर भी दो उपन्यासों के कारण 'कौशिकजी' ने इस क्षेत्र में भी अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। 'माँ' और 'भिखारिनी' दोनों ही उत्तम उपन्यास हैं। 'कौशिकजी' के उपन्यासों में एक बात बड़ी सुन्दर जँचती है। कथोपकथन बड़े ही सार्थक और चुस्त होते हैं, जो बड़े सुन्दर ढङ्ग से कथा को आगे बढ़ाते हैं। लेखक को कुछ अपनी ओर से कहने की आवश्यकता नहीं होती और पात्रों के क्रिया-कलापों एवं वार्तालापों से ही कथा-वस्तु की सारी जानकारी हो जाती है। दोनों ही उपन्यासों में आदर्शवादी दृष्टिकोण रखते हुए भी घटनाओं का यथा-तथ्य वर्णन करने में लेखक ने काफी सफलता पायी है। किन्तु फिर भी 'कौशिकजी' अपने उपन्यासों में युग के बहुत पीछे हैं। इनकी कृतियों में नवीनता, संघर्ष एवं विश्लेषण नहीं, जो प्रेमचन्द की प्रधान वस्तु है।

भाषा की दृष्टि से कौशिकजी के उपन्यास आदर्श माने जा सकते हैं, हिन्दी और हिन्दुस्तानी की समस्या ने इस प्रश्न को और भी जटिल बना दिया है। भाषा पात्रानुकूल होनी चाहिये—यहाँ तक सभी सहमत हैं; किन्तु इस बात पर कोई सहमत नहीं हो सकता कि प्रेमचन्दजी के उपन्यासों को पढ़ते समय पाठक उर्दू कोष लेकर बैठें। 'प्रेमचन्द' के मुसलमान पात्र फारसी तक बोलते हैं। यदि बिलकुल नहीं तो फारसी के तत्सम शब्दों का बाहुल्य तो अवश्य ही रखते हैं। अतः उन्हें समझने के लिए कोष की शरण लेनी पड़ती है। 'प्रसादजी' के पात्र भी ठीक इसी तरह जिस सारगर्भित भाषा का प्रयोग करते हैं। वह सर्वथा दार्शनिक हो जाती है और हम पात्रों के साथ तादात्म्य स्थापित न कर उन्हें आदर्श-लोक की कल्पना समझने लगते हैं। 'कौशिकजी' थोड़ा-थोड़ा बहकने पर भी इस क्षेत्र में सफल हैं। इनकी भाषा में गति और प्रवाह है।

'श्री वृन्दावनलाल वर्मा' के उपन्यास भी उच्च कोटि के हैं। इनके

ऐतिहासिक उपन्यास सफलता का सेहरा माथे पर लिये घूमते हैं। इनका स्थान हिन्दी-साहित्य में बंकिम का है। इतिहास, कल्पना, रोमांस, चरित्र-चित्रण, इन चारों को वर्माजी ने सफलतापूर्वक निबाहा है। वर्माजी ने जो कुछ लिखा है, अनुभूति के आधार पर। इसीलिए वर्णन बड़े ही मार्मिक और प्रभावोत्पादक हुए हैं। 'प्रेमचन्द' और वर्माजी में यहीं पर विभिन्नता है। 'प्रेमचन्द' जी में अद्‌भुतता (Romance) का सर्वथा अभाव है, जब कि वर्माजी में इसका सर्वथा बाहुल्य। वर्माजी की अद्‌भुतता उनकी वास्तविकता से घुलमिल कर आदर्शवाद के पक्के रङ्ग में निखर कर हमारे सामने आती है। 'गढ़कुण्डार' 'विराटा की पद्मिनी' इनकी सुन्दर कृतियाँ हैं।

'वर्माजी' के बाद हम एक नये युग में प्रवेश करते हैं, जिसे 'जैनेन्द्र-युग' कह सकते हैं। इस युग में उपन्यास-क्षेत्र में एक मौलिक आदर्श की स्थापना होती है। आप हमारे युगों की माँगों के उपन्यासकार हैं। भाषा और भाव दोनों ही मौलिक होते हैं। उज्ज्वल आदर्शपूर्ण भविष्य की स्थापना करना आपका प्रधान लक्ष्य है। 'जैनेन्द्रजी' के शब्दों में ही "उपन्यास का काम है, कुछ आगे की—भविष्य की सम्भावनाओं की झाँकी दिखाना और जो कुछ अब है, उसी तरह हमारे सामने खोल कर रख देना।" बात तो ठीक है, किन्तु 'जैनेन्द्र' जी के उपन्यास भविष्य की एक झाँकी दिखाने के बदले भविष्य की एक समस्या बन गये हैं। वे किसी तरह अपनी समस्या सुलझाने में जैसे असमर्थ हो जाते हैं। पाठकों के सामने पात्र एक सजीव प्रश्न-चिह्न से खड़े हो जाते हैं। वे पात्र स्वयं अपूर्ण और अपूर्त होते हैं। लेखक उन्हें उनके क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता देता है और अपने बीच में किंकर्त्तव्यविमूढ़ और मतिचकराया-सा खड़ा रहता है, जैसे उसके पास कोई रास्ता नहीं हो, जो उन्हें सुझाये। अतः लेखक सारा सुझाने का भार पाठकों पर लाद देता है—उन पाठकों पर, जो अब भी 'चन्द्र-

कांता' और 'भूतनाथ' का स्वप्न देखते हैं। यही कारण है कि उनके उपन्यास प्रश्नान्त हैं—न सुखांत न दुखांत। इन्हें एक प्रकार से अधूरा कहा जा सकता है। पाठक उपन्यास पढ़ने बैठता है, तो मालूम होता है कि किसी भूल-भुलैया में घूम रहा है। वह उनकी रहस्यमयी भाषा में स्वयं रहस्यमय बन जाता है। जैनेन्द्र के उपन्यास यों अधूरे कहे जा सकते हैं। किन्तु सब होते हुए भी जैनेन्द्र की खास विशेषताएँ हैं। वे मनुष्य की सद्वृत्तियों और आध्यात्मिक सम्भावनाओं को जाग्रत करनेवाले लेखक हैं। इसका यह आशय नहीं कि वे अपने विचारों में पुरानपंथी या रूढ़िवादी हैं। वर्तमान निधियों को वे सत्य नहीं मानते; किन्तु दुनिया की व्यावहारिक समस्याओं से अपने को उदासीन भी नहीं रखते। 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी' इनकी सुन्दर कृतियाँ हैं।

'उग्रजी के उपन्यासों की भाषा सशक्त है, इसमें संदेह नहीं; किंतु कामुकता का प्रचारक है। 'इन्द्रधनुष', 'बुधुवा की बेटी', 'दिल्ली का दलाल', चंद हसीनों के खतूत' तथा 'शराबी' सामाजिक उपन्यास हैं।

श्री भगवतीचरण वर्मा ने इस क्षेत्र में आशातीत सफलता पायी है। 'वर्माजी' व्यक्तिवादी हैं। इनका व्यक्तित्व इतना जोशीला है कि रूढ़िवादी विचार उसके सामने ठहर नहीं सकते। आपके उपन्यासों में असन्तोष की पर्याप्त मात्रा झलकती रहती है। आपने विप्लव-कारिणी विचारधारा का काफी प्रचार किया है। 'चित्रलेखा' में कथानक का प्रवाह गम्भीरता लिये है। भाषा सरल, स्निग्ध और सौम्य है। 'तीन वर्ष' जीवन से ऊबे हुए मनुष्य की कहानी है। इसमें 'चित्रलेखा' का उल्लास दृष्टिगोचर नहीं होता। थोड़े में इनके उपन्यास जीवन की सामयिक परिस्थितियों तक ही सीमित न रह कर, इसके नित्य स्वरूप को भी हमारे सामने रखते हैं।

श्री चतुरसेन शास्त्री अपने उपन्यासों में रूढ़ि-ग्रसित समाज के

विकृत, अपवित्र एवं भयङ्कर रूप को देखकर तड़प उठे हैं और उसकी कठिन शृंखलाओं को भङ्ग कर उसे मुक्त करना चाहते हैं। 'हृदय की प्यास' और 'हृदय की परख' सुन्दर हैं। श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव के उपन्यास बड़े ही लोकप्रिय हुए। दाम्पत्य जीवन की समस्त अनुभूतियाँ इनके उपन्यासों में पायी जाती हैं। 'विदा' इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। 'विकास', 'विजय' उतने सफल नहीं।

उपन्यास-लेखकों में श्रीभगवतीप्रसाद वाजपेयी ने कोटा तो पूरा कर दिया है, किन्तु सभी उतने सुन्दर नहीं आये हैं। केवल 'पतिता की साधना' और 'दो बहनें' में कला का निखार हो पाया है। 'प्रेम-पथ' में बहनोई रमेश का अपनी विधवा साली के साथ रात-रात भर एकांत में बातें करना, चुम्बन और आलिगन से भी न हिचकिचाना वाजपेयीजी की दृष्टि में पवित्र प्रेम है। फिर खुदा जाने, अपवित्र प्रेम कहाँ है!

निरालाजी को लोग कवि के रूप में जानते हैं, किंतु हैं ये उप-उपन्यासकार भी। 'अप्सरा', 'अलका', 'प्रभावती' और जाने क्या-क्या लिख मारा है। 'निरालाजी' के उपन्यास पढ़ने पर समाज की हलचल, राजनीति की समस्याएँ तथा व्यक्ति के मानसिक द्वन्द्व पाठक के सामने आ जाते हैं। इन्होंने नागरिक जीवन की समस्याओं को ही सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया है, वरन् 'प्रेमचन्द' की तरह गाँव का भी एक सुन्दर खाका खीचने में सफल हुए हैं। उपन्यासों में यथार्थवाद का सुन्दर पुट हैं। 'अलका' में पल-पल पलटनेवाले किसानों का यथार्थ चित्रण 'गोदान' की ही भाँति है। यदि 'होरी' यथार्थ है, तो 'बुधुवा' उसका ही सगा भाई है।

सियारामशरणजीकी 'गोद' अच्छी है। 'नारी' भी सुन्दर है। पहले में उनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है। इनके उपन्यासों के हास्य शिष्ट और पांडित्यपूर्ण हैं। श्रीनाथ सिंह की केवल

'दीदी' ही नहीं निकलती, उपन्यास भी निकलते हैं। इनकी 'प्रभावती' सुन्दर है।

'अनूपलाल मण्डल' की 'मीमांसा' आज 'बहुरानी' के रूप में है, जो यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि वे किस कोटि के लेखक हैं। राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह का 'राम-रहीम' बड़ा लोकप्रिय हुआ है। यह उपन्यास हिन्दू-मुस्लिम एकता का अमर संदेश देता है। 'वियोगी' जी खुद तो वियोगी हैं, किन्तु इनके उपन्यास संयोगी हैं। इनके 'भाई-बहन' से 'विसर्जन' कहीं सुन्दर है। पण्डित हंसकुमार तिवारी की कहानियाँ अपने ढङ्ग की निराली होती हैं—अपना आदि अपना अन्त, किसी से कोई ताल्लुक नहीं। आजकल आप एक युगांतरकारी उपन्यास लिख रहे हैं। पुस्तक का आरम्भ बहुत सुन्दर हुआ है। उपन्यासों में अज्ञेय का टेकनिक निराला है। जीवन का इतना सूक्ष्म और गहरा अध्ययन बहुत कम देखने को मिलता है। भाषा-शैली भी उसी के अनुरूप सुन्दर और गंभीर है। 'शेखर' को देखने के बाद यह विश्वास होता है कि इनकी लेखनी से विश्व-साहित्य की निधि सृजित हो सकेगी। इलाचन्द्र जोशी की भाषा यद्यपि बोझिल है, पर विषय और दृष्टिकोण को देखने से उपन्यासों को एक खास स्थान देना पड़ता है। 'सन्यासी' 'प्रेत और छाया' और 'परदे की रानी' सुन्दर हैं। उपन्यास लेखिकाओं में 'कुतुब मीनार' की तरह एक स्तम्भ हैं 'ऊषादेवी मित्रा' और खुशी की बात यह है कि आर्य-समाजी जिस तरह मुसलमानों को भी हिन्दू बना लेते हैं, इनको बङ्गला से हिन्दी में लाया गया है। इनके 'जीवन की मुस्कान' से 'पिया' सुन्दर हो सका है।

हिन्दी नाट्य-साहित्य का उद्भव

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने नाट्य-कला का परिचय इस ढंग से दिया है—"The art that holds the mirror up-to nature by personating different costumes & gestures is the dramatic." बाबू श्यामसुन्दर दास ने अपनी उक्ति इस ढङ्ग से रखी है:—"रूपक काव्य की वह विशेष दिशा है, जिसमें लोक-परलोक की घटित-अघटित घटनाओं का दृश्य दिखाने का आयोजन किया जाता है और इस कार्य के लिए अभिनय की सहायता ली जाती है।" यदि हमारी कल्पना में कोई ऐसा घटनाचक्र घूम रहा है, जिसका दृश्य देखकर हम प्रभावित और रसमग्न होते हैं तथा जिसके एक-एक पात्र अपने स्वतन्त्र अस्तित्व से हमें चकित करने में समर्थ हैं, और वे पात्र आपस के संसर्ग से स्वत: ही एक कथानक बना लेते हैं और स्वत: ही उसे समाप्त भी कर देते हैं, तो उचित होगा कि हम उन कतिपय व्यक्तित्वशाली पात्रों और उनके संसर्ग से बनी आकर्षक और वेगवती घटनावली को दृश्यकाव्य के रूप में दिखा दें—उसे रूपक का रूप दे दें।

काव्यों में कवि दृश्य-जगत के भिन्न-भिन्न व्यापारों का अनुकरण करता है। नाटकों में इसी अनुकरण की प्रधानता रहती है, किन्तु दोनों में विभिन्नता है। काव्यों में अनुकरण अप्रत्यक्ष रूप में किया जाता है, जब कि नाटकों में प्रत्यक्ष रूप में। अरस्तू ने बहुत पहले ही अनुकरण को कला कहा था। उसके इस कथन में दृश्य-काव्य की ओर ही संकेत दृष्टि-गोचर होता है, क्योंकि अनुकरण का स्पष्टतम रूप नाटकों में ही दीख पड़ता है।

जैसा विद्वानों का मत है, अनुकरण-प्रवृत्ति ही नाट्य-साहित्य की जननी है। नाटक के सभी उपकरण हमारी मानव-प्रवृत्तियों में ही अन्तर्निहित हैं। उनके लिए न तो संस्कृति की आवश्यकता है, न समाज की ही। किंतु साहित्य सुव्यवस्थित समाज में ही विकसित हो सकता है, अतः नाटकों का विकास भी समाज के विकास के साथ-साथ ही हुआ होगा। आदिम निवासियों की अनुकरण-पद्धति ने देवी-देवताओं के पूजन के अवसर पर उसे अधिक प्रभावशाली, शिक्षा-पूर्ण तथा मनोरंजक बनाने के लिए इनकी स्तुतियों को एक प्रकार का रामलीला या रासलीला में परिवर्तित कर दिया होगा, फिर उनके कल्पना और प्रस्तुत जीवन में काल्पनिक घटनाओं का समावेश किया गया होगा और उसमें आध्यात्मिकता जोड़ी गयी होगी। फिर बाद में उसमें रसानुभूति लाने के लिए—संगीत और मनोरंजन लाने के लिए—कथोपकथन का समावेश किया गया होगा।

भारतीय नाट्य-साहित्य के उद्भवकाल का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। इतिहास इसमें मूक है, क्योंकि उस समय के इतिहास का भी तो कोई इतिहास प्राप्त नहीं। इसलिए भारतीय नाट्य-साहित्य के विकास का हम कोई निश्चित प्रमाण न देकर कोरी कल्पना ही कर सकते हैं। फिर भी यदि हम समसामयिक देशों के नाट्य-साहित्य की ओर दृष्टिपात करें, जिनकी प्रचुर सामग्री हमारे पास है, तो शायद

हमारे नाटकों के उद्भव पर भी कुछ प्रकाश पड़े। इस तरह के देश दो ही हैं, यूनान और चीन।

डायोनिसस यूनान देश के एक प्रसिद्ध देवता हैं—अर्द्ध मानव और अर्द्ध पशु। ठीक गणेशजी की तरह। भिन्नता इतनी ही है कि गणेशजी का शरीर मानव का और मुख पशु का है, जब कि डायोनिसस का शरीर ही पशु का और मुख मानव का है। इसी डायोनिसस की पूजा के लिए अजा-गीतों की रचना होती थी। अजा-गीत इसलिए कि प्रधान अंग अजा का था। इन गीतों के गाते समय गायक-गण बकरी का चमड़ा बदन पर ओढ़ लेते थे। यही अनुकरण पद्धति है, जो नाट्य-साहित्य की जननी होगी। और इसी की ओर अरस्तू ने संकेत किया होगा। इन कारुणिक प्रार्थनाओं या गीतों को गाने में गायकों ने प्रभा-वशाली बनाने के लिए अवश्य ही अभिनयात्मक ढंग से काम लिया होगा; और फलस्वरूप ट्रेजेडी या दुखान्त नाटकों का जन्म हुआ होगा। सुखान्त नाटकों की भी इसी प्रकार कल्पना की जा सकती है। होली-जैसे पवित्र त्योहार में कभी धर्म की विजय और पाप की पराजय हुई होगी। जनता आनन्द से आप्लूत हो उठी होगी और विजयवाली घटना का अनुकरण किया गया होगा। निश्चय ही यह 'कामेडी' या सुखान्त नाटकों का जन्मदाता होगा।

परन्तु प्रो० मरे तथा रिजवे का मत उद्धृत करते हुए बाबू श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि यूनानी 'ट्रेजेडी' की वस्तु डायोनिसस तक ही सीमित नहीं थी। देश के अन्य वीर पुरुषों की भी स्मृति मनायी जाती थी और महाकाव्यों के वीर नायकों का भी अनुकरण होने लगा था। प्रो० रिजवे का मत है कि डायोनिसस पर्व का समारोह तो उतना प्राचीन नहीं है। उसके पहले यूनानी अपने यहाँ के मृत वीरों की समाधि पर एकत्र होकर उनके साहसपूर्ण कार्यों की रास रचते थे और साथ ही उनके जीवन की विपदाओं को भी चित्रित

करते थे। खैर, जो भी हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अनुकरण-प्रवृत्ति इसमें भी थी और यही नाट्य-साहित्य की जननी है।

आजके अधिकांश नाटक पश्चिमीय पद्धति का अनुकरण करके ही चलते हैं, किन्तु इसका तात्पय यह नहीं कि भारत के नाट्य-साहित्य का उद्भव सबों के बाद हुआ है। ईसा के कई शताब्दी पूर्व ही यहाँ नाट्य-शास्त्र प्रणीत हो चुका था और भास, कालिदास-जैसे श्रेष्ठ कलाकारों की उत्पत्ति हो चुकी थी। नाट्य-साहित्य के नियमों का जितना सूक्ष्म निरूपण यहाँ हुआ, उतना अन्य स्थानों में नहीं। आरम्भ में ही नाटक के तत्वों का प्रतिपादन करता हुआ नाट्य-शास्त्र लिखता है—

"एक बार वैवस्वत मनु के युग में लोग बहुत दुःखित हुए। इंद्र तथा दूसरे देवताओं ने जाकर ब्रह्मा से प्रार्थना की —'आप मनो-विनोद का कोई ऐसा साधन प्रस्तुत करें, जिससे लोगों में आनन्द की सृष्टि हो।' ब्रह्मा ने चारों वेदों को बुलाया और उनकी सहायता से एक पंचम वेद की सृष्टि की। उन्होंने ऋग्वेद से संवाद लिया, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस।"

पाश्चात्य नाटकों की तरह भारतीय नाटकों में सुखान्त-दुखान्त का वर्गभेद नहीं था। यही कारण है कि भारतीय नाट्य-साहित्य कृत्रिमता के थपेड़े से पूर्णतः बचा रहा। जीवन के आनन्द-विषाद, दोनों को यहाँ के लेखक एक ही लड़ी में गूँथ देते थे। नाटकों के भिन्न-भिन्न भेदों पर दृष्टि डालने से पता चलेगा कि यहाँ के नाटककारों ने महा-काव्य के उदात्त चरित्रों और घटनाओं से लेकर विकृत पात्रों के व्यंग्य चित्रों तक को नाटकों में सुचारु रूप से प्रदर्शित किया था।

नाटक का नायक इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति होता था—धीर, वीर, गंभीर, उदात्त, प्रतापी, कीर्तिकामी, महान उत्साहवाला, वेदों का रक्षक, राजा, राजर्षि या कोई दिव्य पुरुष। यूनान तथा चीन के नाटकों के नायक भी

देश-विख्यात व्यक्ति होते थे। इसी प्रकार कथावस्तु भी ऐतिहासिक या पौराणिक ही। प्रकरण, प्रहसन तथा रूपकों की कथाएँ कवि-कल्पित भी होती थीं। वस्तु-विन्यास करने में नाटककारों को स्वतन्त्रता थी। प्राकृतिक दृश्यों का समावेश तो भारतीय नाटकों की एक खास विशेषता थी। वास्तव में इसे नाटक का प्राण कह सकते हैं। कालिदास के नाटक इस गुण से विभूषित हैं। इससे नाटकों में अधिकाधिक रमणीयता का समावेश संभव होता और कलापक्ष अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है।

प्रेक्ष गृह भी प्राचीन नाटकों की एक विशेष सामग्री था। भरत मुनि ने तो इसको लम्बाई-चौड़ाई तक निश्चित कर दी है। वास्तव में उस समय के प्रेक्षागृहों की बनावट इस प्रकार की होती थी कि अभिनय की पूरी सुविधा मिल सके। भारतीय प्रेक्षागृह लम्बाई-चौड़ाई में रोम के प्रेक्षागृहों से अधिक होने से अधिक आकर्षक और सुविधाजनक होते थे। दीवारों पर तरह-तरह के चित्र सौंदर्य की अभिवृद्ध करते थे। नेपथ्य-वचन के लिए विशेष प्रबन्ध रहता था। बनावट में इस बात पर पूरा ध्यान रखा जाता था कि आवाज अच्छी तरह से गूँजे।

किन्तु आज तो प्रेक्षागृह देखने को भी नहीं मिलते। चलचित्र के आविष्कार से तो जैसे नाटकों की टांग ही टूट गयी। वह कला, जिसे भारत का प्रति व्यक्ति प्रदर्शित कर सकता था, आज कुछ इने-गिने अभिनेताओं तक ही सीमित रह गयी है। उस पर भी लांछन यह लगाया जाता है कि आज के नाटक अभिनय के उपयुक्त होते ही नहीं। लोगों की दृष्टि में तो 'प्रसाद' के नाटकों का किसी प्रकार से सफलतापूर्वक अभिनय नहीं किया जा सकता। किन्तु इस उक्ति से तो 'चले न जाने आंगन टेढ़' वाली कहावत ही चरितार्थ होती है। यदि सम्पूर्ण सामग्री नाट्य-शास्त्र के नियमों के अनुसार प्रस्तुत की जाय, तो आधुनिक नाटकों के अनुसार नाटकों के सफल अभिनय में भी विशेष हेरफेर की

आवश्यकता नहीं होगी। 'प्रसाद' जी ने एक स्थल पर लिखा है—"रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जांय। प्रयत्न तो यह हो कि नाटक के लिए रंगमंच हों, जो व्यावहारिक है। हाँ, रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। देशकाल की प्रवृत्तियों का समुचित अध्ययन भी आवश्यक है, फिर तो पात्र रंगमंच पर अपना कार्य सुचारु रूप से कर सकेंगे। इन सब के सहयोग से ही हिन्दी रंगमंच का अभ्युत्थान सम्भव है।

सफल अभिनय नाटक को उसके चरम तक पहुँचा सकता है। रंगमंच और अभिनय में आरम्भ से ही घनिष्ठ संबन्ध है। दोनों की ही सफलता एक दूसरे पर आधारित है और दोनों की सफलता पर ही दृश्य काव्य की प्रगति मुख्य रूप में अवलम्बित है। बहुत-से विद्वानों का तो मत है कि नाट्यकला में तब-तब उत्थान हुए हैं, जब रंगशालाओं को कोई नयी सुविधा दी गयी है या कोई विशेष प्रतिभासम्पन्न अभिनेता अपने अभिनय से संसार को चमत्कृत कर गया है। इङ्गलैंड की प्रसिद्ध रानी एलिजाबेथ रंगमंच के उन्नयन में दत्तचित्त रहती थी। शेक्सपियर के नाटकों का यही उत्थान-युग था। प्राचीन यूनान की अविकसित अभिनय-शैली के अनुसार ही वहाँ के नाटक भी थे, जिनमें या तो अश्लीलता का समावेश किया जाता था या भयानक घटनाओं का ही प्रदर्शन। किन्तु भारत में इसकी व्यवस्था पहले ही हो गयी थी कि हत्या, उत्पीड़न या भयानक दृश्य रंगमंच पर न दिखाये जायँ। शायद इसीलिए भारतीय नाट्यकला बर्बर प्रदर्शनों से बची रही।

रंगमंच पर हत्या, उत्पीड़न या भयानक दृश्य दिखाने का एक ही प्रयोजन हो सकता है—अनुकरण में यथार्थता लाना। किन्तु यह यथार्थता अन्यान्य व्यवहारों से भी लायी जा सकती है। अँग-संचालन, वेशभूषा, वाणी और भावप्रदर्शन इसके मुख्य साधन हैं।

देश, काल और पात्र का यथोचित ध्यान रखते हुए भिन्न-भिन्न पात्रों से उनके अनुरूप संस्कृत अथवा प्राकृत भाषा का व्यवहार कराया जा सकता है।

अभिनय को सफल बनाने के लिए अनेक युक्तियाँ काम में लायी जाती थीं। इससे ज्ञात होता है कि हमारी नाटक की प्राचीन पद्धति अवश्य ही पूरी विकसित होगी। नेपथ्य, आकाश-भाषित, स्वगत आदि विधियों को देखकर तो स्पष्ट शब्दों में कह देना पड़ता है कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व की हमारी विकसित कला की बराबरी आज का विश्व-नाट्य-साहित्य भी नहीं कर सकता। आश्चर्य तो यह होता है कि यूरोप के विद्वान जो आज अपनी विकसित नाट्य-कला का हामी भरते हैं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में भी हमारी प्राचीन नाट्य-पद्धति को नहीं समझ पाये थे ; और कितने उपकरण तो आज भी ऐसे हैं, जो उनकी खोपड़ी में अब भी सीधे नहीं आते । हाँ, इन्हें निकृष्ट और अव्यावहारिक करार देने के लिए वे उलट-पुलट करते, ऐसा अवश्य ही समझ लेना पड़ता है।

परन्तु खेद है कि अभिनय की वह प्राचीन कला हमें विस्मरण हो गयी है और पाश्चात्य-कला को ही सर्वप्रथम स्थान देने लगे हैं। हमें यह भी मानते पश्चात्ताप नहीं होता कि हमारी प्राचीन कला अविकसित थी और आज की पश्चिमीय कला, जो हम ग्रहण कर रहे हैं, सर्वथा नवीन और नवाविष्कृत है। इसे तो हम पश्चिम की देन समझते हैं। किन्तु इसका प्रमुख कारण यह है कि हमारी चेतना मंद हो रही है और जो कुछ हमें सुगमता से मिल जाता है उसे, ही हम आँख मूँदकर अपना लेते हैं। इन दिनों हम भिक्षावृत्ति पर ही आत्मभर हो रहे हैं।

यदि हम ध्यान देकर देखें, तो इस निष्कर्ष पर आ जायगे कि पश्चिमीय पद्धति प्रचलित सभी पद्धतियों में निकृष्ट है। इसका

अविष्कार सर्वथा नवीन है और अब भी परिपुष्ट नहीं हो पायी हैं। शेक्सपियर के पात्र अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में नकाबपोश पहन डांड़ डुलाकर चले जाते थे। रंगमंच पर प्रभावोत्पादन के लिए बहुत-से अद्भुत और भीषण प्रदर्शन भी किये जाते थे। बात-बात में गाना गाकर उत्तर देना तो परिपाटी ही थी। वास्तव में लोगों पर गति-काव्य और दृश्य-काव्य का भेद प्रकट ही नहीं था।

जापानी रंगमंच पर भी ये सभी बातें काम में लायी जाती हैं। हत्या के दृश्य, विलायती रंगमंच-सा जपानी रंगमंच पर अब भी प्रचलित हैं। दुःखमय और भयानक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए जपानी पात्र रंगमंच पर ही मल्लयुद्ध कर डालते हैं। फलस्वरूप कभी-कभी खूनखराबी भी हो जाती है।

हमारे ऋषियों ने उपर्युक्त दृश्यों के दिखाने का निषेध कर कितनी दूरदर्शिता का परिचय दिया है, यह तो तभी ज्ञात हो सकता है, जब वदेशी नाटकों और अभिनयों में प्रचलित इस कुप्रथा और इसके दुष्परिणाम को देखें।

हिन्दी नाट्य-साहित्य का विकास

हिंदी नाटक आधुनिक उपज है। यों तो नाटकों की उत्पत्ति वेदों के साथ-साथ ही हुई और ईसा तक आते-आते जनता पर इनका पूर्ण आधिपत्य जम गया, किन्तु बीच के अशान्ति के युग में फिर इसका ह्रास हो गया। कारण स्पष्ट है। मध्ययुग पूर्णतः अशान्ति का युग था। तलवारों की तीक्ष्णता राज्य-सीमाओं का निर्माण कर रही थी। रणभूमि में रक्त-वर्षा होती थी, रस-वर्षा नहीं। फिर इस अशान्त युग में नाटकों का आविर्भाव क्यों कर संभव हो सकता था। नाटक तो सुख-शान्तिमय जीवन के प्रतीक हैं, मनोरंजन की सामग्री हैं। ऐसी कोमल-कला को जीवन में स्थान देना जनता के लिए वस्तुतः कठिन था।

मुगलों के समृद्धिशाली शासन-काल में भी नाटकों की रचना संभव नहीं हो सकी। प्रथम तो मुसलमान शासक किसी भी नकल को हेय दृष्टि से देखते थे, दूसरे भारतीय जनता भी पराधीनता के पाप और विदेशी शासन के अवांछनीय भार को भली भाँति समझती थी। उनके हास में क्रन्दन और क्रीड़ा में उदासी छिपी थी, अतः नाट्य

कला को प्रश्रय नहीं मिल सका। उस समय यदि नाटक का बिखरा अस्तित्व कहीं दृष्टिगोचर होता था, तो केवल रामलीला और रासलीला के रूप में और वह भी केवल खिन्न हृदय को बहलाने के लिए।

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध नवयुगारंभ था। पाश्चात्य सभ्यता का अंशुमाली प्राची के वातायन में अपनी प्रभा बिखेर रहा था। अँगरेजी साहित्य बँगला का माध्यम लेकर भारतीयों के संपर्क में आ रहाथा। मुरझाये पौधे में मधुवर्षण हुआ। वह खिल उठा। साहित्य के विभिन्न अंगों का सृजन होने लगा। नाटक भी नहीं बच सका। सं० १९३० में भारतेन्दुजी ने अपना पहला मौलिक नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' लिखा। इसके पश्चात् सत्य हरिश्चन्द्र, चंद्रावली, भारत-दुर्दशा, अंधेर नगरी, नीलदेवी, प्रेमयोगिनी इत्यादि नाटक इन्होंने लिखे। लाला श्रीनिवास दास ने रणधीर प्रेममोहिनी, तप्ता-संवरण, संयोगिता-स्वयंवर इत्यादि प्रस्तुत किये। उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी ने भारत-सौभाग्य लिखा। प्रतापनारायण ने गो-संकट तथा पंडित अंबिकादत्त ने ललिता नाटिका, भारत-सौभाग्य इत्यादि का जन्म दिया।

यों तो इसके पहले भी बहुत-से नाटक लिखे जा चुके थे। मैथिल कोकिल विद्यापति ने रुक्मिणी-हरण तथा 'पारिजात-हरण' लिखा था, केशव दास ने 'विज्ञान गीता', यशवन्त सिंह ने प्रबोध चन्द्रोदय, निवाज ने शकुन्तला इत्यादि, किन्तु इन्हें नाटक के नाम से पुकारना नाट्य कला के प्रति व्यंग्य करना है। आधुनिक नाटक के जितने कार्य-व्यापार हैं,उनमें से किसी का भी इन नाटकों में समुचित रूप से बोध नहीं होता। धार्मिक कथाओं के रूप में ये केवल पद्यात्मक रचनाएँ हैं। वास्तव में हरिश्चन्द्र के साथ ही हिन्दी-नाटकों का युग प्रारंभ होता है। भारतेन्दु के उदय से समस्त साहित्य-संसार पूर्णेन्दु के ज्योत्स्ना-मधु से स्नात हो उठा। इन्होंने अपने सभी नाटकों में

सुधार तथा समाज-सुधार के दृष्टिकोण भी वर्तमान हैं। हास्य भी शिष्ट और उद्देश्यपूर्ण हैं। भारतीय और अँगरेजी शैली के समन्वय होने के नाते इनकी नाट्य-कला उस आर्य ललना के सदृश है, जो भाल पर सुहाग की अरुण सिंदूर-बिंदी लगाकर भी युग की आवश्यकता समझ कलाई में रिस्टवाच बाँध लेती है।

इनके बाद नाटकों का अनुवाद युग आया। अँगरेजी, बँगला, संस्कृत तथा अन्य-अन्य भाषाओं से भी नाटक हिन्दी में अनूदित हुए। लाला सीताराम, बी० ए० ने शेक्सपियर के कई नाटकों का अनुवाद किया। गोपीनाथ ने 'रोमियो जूलिएट' तथा 'ऐज यु लाइक इट' का अनुवाद प्रस्तुत किया। गोपालराम गहमरी तथा रामकृष्ण वर्मा ने बँगला को अपनाया। रामचन्द्र वर्मा तथा रूपनारायण पांडेय ने द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का सफल अनुवाद किया। पं० सत्य-नारायण कविरत्न तथा लाला सीताराम, बी० ए० संस्कृत से कई नाटक लाये। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने चंद्रकला भानुकुमार नामक एक मौलिक नाटक लिखा। यद्यपि चरित्रों का अपूर्ण विकास तथा आधुनिक सिद्धान्तों का समावेश पूर्ण रूप से खटकता है, फिर भी नाटक काव्य की दृष्टि से अच्छा हुआ है और ऋतुओं का वर्णन बहुत कवित्वपूर्ण है। अभिनय की दृष्टि से नाटक त्रुटिपूर्ण है। पं० नारायण प्रसाद 'बेताब' ने भी एक नाटक लिखकर उर्दू-प्रधान पारसी नाटकों की ओर से जनता की रुचि को मोड़ा। किशोरीलाल गोस्वामी के नाटक केवल नाम के थे।

कुछ लोगों का विचार है कि ये अनूदित नाटक बेकार रहे और हिंदी साहित्य को इनसे कोई स्थायी सम्पत्ति नहीं मिली; किंतु सचमुच ये अनुवाद बेकार नहीं थे। और कुछ नहीं तो इनसे साहित्य तथा जनता के मस्तिष्क में एक नवचेतना तो अवश्य आयी। कम-से-कम लोगों ने यह अनुभव तो किया कि इस क्षेत्र में हमारा

साहित्य बहुत पिछड़ा हुआ है। द्विवेदी-काल में लोगों का ध्यान गद्य की ओर ही विशेष आकृष्ट रहा। नाटकादि की रचना की ओर लोगों का ध्यान नहीं गया। माधव शुक्ल का महाभारत ही इस समय का स्मरणीय है।

इस तरह एक ओर तो हिंदी-मर्मज्ञ पत्र-पुष्प से साहित्य का भंडार भर रहे थे, दूसरी ओर एक अशिष्ट साहित्य की भी सृष्टि हो रही थी। उनका महत्व शिष्ट साहित्य की दृष्टि से भले न हो, पर प्रचार की दृष्टि से अवश्य ही कम न था। पारसी कंपनियाँ उर्दू ढंग के नाटकों से लोगों का मनोरंजन करती आ रही थीं। इनके लिखने का एक निश्चित आधार था, जिसका प्रधान कार्य केवल जनता का मनोरंजन करना था। किन्तु इनसे साहित्यिक मस्तिष्क के लोगों को संतोष नहीं होता था। नारायण प्रसादजी बेताब ने सर्वप्रथम इन कम्पनियों को हिंदी की ओर मोड़ा। इनके महाभारत नाटक को अलफ्रेड कम्पनी ने अभिनीत किया और जनता में काफी आदृत भी हुआ। ऐसे ही नाटक पं० राधेश्याम कथावाचक, पं० हरिकृष्ण जौहरी तथा आगा हस्रजी ने भी लिखे। पं० राधेश्यामजी के नाटक अधिक अच्छे उतरे हैं। इनका वीर अभिमन्यु श्रेष्ठ है। यदि पंडितजी अपने नाटकों को पारसी कम्पनियों से बचा सकें, तो ये साहित्य की अच्छी सम्पत्ति हो सकते हैं।

श्री जयशंकर 'प्रसाद' से नाटकों का आधुनिक तथा उत्कर्षयुग आरंभ होता है। प्रसाद के सभी नाटक मौलिक हैं। दूसरे के भाव कहीं भी अपनाये नहीं गये हैं। इन्होंने प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों के सम्मिश्रण से एक तीसरी शैली तैयार कर ली है, जो अपने में पूर्णतः स्वतंत्र है। किन्तु फिर भी प्रसाद ने उस अस्वाभाविकता को स्थान नहीं दिया है, जो नीरसता के रूप में परिणत हो जाय तथा रूढ़ियों का उतना अनुसरण भी नहीं किया है, जो नाटककार की स्वतंत्रता को ही हर ले। आपके 'सज्जन' नामक प्रथम नाटक में नान्दी, सूत्रधार तथा

प्रस्तावना मिलती है तथा आचार्य भरत मुनि के वाक्यों को पूरा करने की कोशिश की गयी है। पर बाद के नाटकों में आचार्य भरत के नियमों के विरुद्ध सर्वथा विरोध-सा दिखता है। नान्दी, सूत्रधार तथा प्रस्तावना तो बिल्कुल उड़ा दिये गये हैं। 'विशाख' में नायक तक्षशिला के समीप एक शिलाखंड पर बैठ एकाएक गाने लगता है। अजातशत्रु में नाटक का आरंभ करुणा और अकरुणा के परस्पर संघर्ष में ही हो जाता है। कामना, चन्द्रगुप्त तथा स्कंदगुप्त में भी भरतमुनि के एक भी वाक्य पूरे नहीं होते। प्रसाद के पात्र शेक्सपियर के पात्रों से कम नहीं। जिस प्रकार शेक्सपियर नाटक के प्रथम दृश्य से नान्दी, सूत्रधार आदि का कार्य पूरा कर देता है तथा पाठक को कुछ खटकने नहीं देता, 'प्रसाद' भी पाठकों या दर्शकों पर इसकी कमी प्रकट नहीं होने देते। नाटक के प्रथम दृश्य की योजना वस्तु का परिचय कराने के लिए ही की जाती है।

अपने नाटकों में प्रसाद ने भौतिक विशेषताओं को स्थान नहीं दिया है। वे सबों को इसी लोक में छोड़ अपने आनंद की खोज में चले गये हैं। इनका दृष्टिकोण एक रोमान्टिक दृष्टिकोण है। वर्तमान से विमुख होने के कारण इनकी चित्तवृत्ति पुरातन की ओर चली गयी है। इनका यही रोमान्टिक दृष्टिकोण इनकी सांस्कृतिक चेतना के लिए उत्तरदायी है।

प्रसाद के नाटकों का आधार हमारी पुरानी, बिखरी आर्य-संस्कृति है। ये इस अपकर्ष-युग से उत्कर्ष युग की तुलना कर हमारी सांस्कृतिक चेतना की पुनरावृत्ति करना चाहते हैं। इस कार्य से प्रसाद ने राष्ट्रनिर्माण में पूरा हाथ बटाया है। प्राचीन सभ्यता में आस्था होने के कारण इन्होंने इतिहास का वही परिच्छेद लिया है, जिसमें उसकी संस्कृति पूर्ण वैभव पर थी। ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृतियों के संघर्ष से उसका रूप प्रखर हो उठा था।

एक ओर चाणक्य ब्राह्मण-धर्म की व्याख्या करते हुए घोषित करता है—"ब्राह्मण एक सार्वभौम, शाश्वत बुद्धि-वैभव है—वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए इतर वर्णों का संघटन कर लेगा"; तो दूसरी ओर भगवान बुद्ध के शीतल स्वर सुनाई पड़ते हैं—"विश्व के कल्याण में अग्रसर हो। असंख्य जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है, इस दुःख-समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया, तो सैकड़ों स्वर्ग तुम्हारे अंतर में विकसित होंगे।......विश्व-मैत्री हो जायगी, विश्व भर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा। "इन्हीं दोनों तन्तुओं से बुना हुआ प्रसाद के नाटकों का आधार है। वर्तमान इतिहास की परवाह न कर उसे ये जहाँ के तहाँ छोड़ते गये हैं। प्राचीन शिलालेखों, पाणिनी व्याकरण, पातञ्जलि योग, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कथा-सरित्सागर, राग-तरंगिनी, पुराण इत्यादि का इन्होंने बड़ा विषद अध्ययन किया है। प्रसाद को केवल रोमान्टिक मोह ही नहीं था, बल्कि चन्द्रगुप्त मौर्य, कालिदास, स्कन्द-गुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि के विषय में जानने की गहरी जिज्ञासा थी। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के बिखरे अवयवों को जोड़कर इन्होंने अपनी कल्पना, भावुकता तथा प्रतिमा-द्वारा इसमें प्राण-संचार किया है।

वातावरण की सृष्टि तो इन्होंने इतनी गम्भीर एवं सजीव रूप में की है कि अतीत हमारे सामने आकर चित्रित हो जाता है और एक-बारगी हम इस पश्चिमीय सभ्यता को भूलकर अपनी पुरानी संस्कृति की माला जपने लगते हैं। इतना ही नहीं, इनके पात्रों के नाम, वेश-भूषा, चरित्र और बातचीत सभी देश-काल के अनुकूल हैं। गोपाद्रि, अन्तर्वेद, आम्भीक, महाबलाधिकृत, कुमारामात्य दण्डनायक, दौवा-रिक, कंचुकी इत्यादि का प्रयोग कर तो इन्होंने जैसे आर्यसंस्कृति को हूबहू हमारे सामने रख दिया है।

प्रसादजी के नाटकों में दार्शनिकता अधिक होने से गंभीरता आ

गई है जिससे हास्य का अभाव स्पष्ट झलकता है। स्कन्दगुप्त के मुद्गल और मातृगुप्त के वार्तालाप में वे अवश्य सफल हुए हैं। अन्य नाटकों में भी उन्होंने वही पेटू ब्राह्मणों से विदूषक का काम लिया है। किन्तु यह सर्वथा आधुनिक रुचि के अनुकूल नहीं है। हास्य का सुन्दर उपयोग प्रसादजी नहीं कर सके हैं। नाटकों में गंभीरता करुणा के गंभीर वातावरण से ही उपस्थित होती है। अजातशत्रु का आरंभ करुणा और अकरुणा के परस्पर संघर्ष से ही आरंभ होता है तथा अंत भी करुणा की विजय में ही होती है। इन नाटकों को सुखान्त कहना तो एक प्रकार का लांछन है। इन्हें ट्रेजी-कामेडी या करुण सुखान्त कहना ही श्रेयस्कर होगा। स्कन्दगुप्त का भी अंतिम दृश्य सुखान्त नहीं, वरन करुण-रस से आप्लावित है। अंतिम दृश्य में सफलता के सौंध में वह अपने को अकेला पाता है।

प्रसादजी के पात्रों का साधारणतया हम दो विभाग कर सकते हैं—साधारण पात्र तथा विशेष पात्र। विशेष पात्रों के सद्गुण तथा दुर्गुण दोनों ही का वर्णन बहुत ऊपर उठाकर किया गया है। साधारण पात्रों की उपेक्षा भी कर दी गई है। बीच की सृष्टि प्रसादजी को उतना आकृष्ट नहीं करती। किसी अभीष्ट प्रभाव के लिए वे किसी विशिष्ट पात्र की ही सृष्टि कर लेते हैं। वास्तव में प्रसादजी कला को सार्थक बनाना चाहते थे और कला की सार्थकता के लिए विशिष्ट पात्रों का आयोजन होना आवश्यक है। कृष्णशंकर शुक्ल 'प्रसाद' के पात्रों की विवेचना करते हुए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं :—

"इनके पात्रों में दोहरा व्यक्तित्व रहता है। वे अपना भी व्यक्तित्व रखते हैं और अपने रचयिता के आदेशानुसार एक कृत्रिम व्यक्तित्व भी ढोते रहते हैं। पर सौभाग्य से इन दोनों व्यक्तित्वों का पृथक्करण सरलता से किया जा सकता है। यदि हम पात्रों के कृत्रिम व्यक्तित्व

को हटा दें, तो उनका निजी सजीव व्यक्तित्व स्पष्ट देख सकते हैं। कृत्रिम आरोपित व्यक्तित्व तीन बातों से जाना जा सकता है। प्रसाद-जी नियतिवादी हैं। इसका प्रभाव इनके अनेक नाटकों पर पड़ा है। कोई ऐसा नाटक नहीं है जिसमें इसकी दोहाई न दी गई हो···परन्तु हम इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि यह नियतिवाद पात्रों की अपनी विशेषता नहीं है। नियति-नियति चिल्लाते हुए भी वे हाथ पर हाथ रखे नहीं बैठते, जीवन के घमासान युद्ध में उतरते हैं और ऐसे-ऐसे कांड रचते हैं कि हमें चकित रह जाना पड़ता है।"

दूसरी बात इनके पात्रों की दार्शनिकता है। इनके विशिष्ट पात्रों से साधारण पात्र ही अधिक दार्शनिक हैं। भाषा भी सब की एक तरह की होने से पात्र पहचाने नहीं जाते हैं। कुछ-कुछ पात्रों में तो ऐसी विशेषता आ गई है कि उसकी कल्पना करना भी दुष्कर प्रतीत होता है। इन विशेष पात्रों में कल्याणी और बासवी का नाम गर्व के साथ लिया जा सकता है। कल्याणी तो कल्याण की साक्षात् मूर्ति है। उसे देवी या स्वर्गीय कहना तो उसके महत्त्व को नितांत कम कर देना है। वह कोई ऐतिहासिक पात्र नहीं। उसने प्रसादजी के भावुक हृदय में जन्म लिया है। उनकी सुकुमार भावनाओं से वह पली है। चन्द्रगुप्त के प्रेम में पागल रहने पर भी वह पिता के वध होने के बाद चन्द्रगुप्त को अपने पिता का विरोधी करार देते हुए, उसके प्रणय को ठुकरा देती है। वह कहती है—"हाँ सच है। परन्तु मेरे पिता के विरोधी हुए, इसलिए उस प्रणय को—उस प्रेम-पीड़ा को मैं पैरों कुचलकर—दबाकर—खड़ी रही! अब मेरे लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा, पिता मैं भी आती हूँ।" इसके बाद छुरी मारकर आत्म-हत्या कर लेती है। जिस स्वर्ग की प्राप्ति के लिए वह आजीवन तपस्या करती है, उसके द्वार पर पहुँचकर वह लौट आती है। इसी

तरह कोमल भावनाओं की मूर्ति —देवसेना की सृष्टि प्रसादजी ने की है। "उसके रूप में सौंदर्य, संगीत, काव्य, प्रकृति और त्याग का बलिदान साकार होकर बोलने लगा है।" यौवन की मदिरा से प्रमत्त सुवासिनी, महात्वाकांक्षा की पुजारिन विजया, त्याग और बलिदान की मूर्ति देवसेना और मल्लिका कुशल नाटककार के चित्रित पात्र हैं। स्त्री-पात्रों के चित्रण में प्रसादजी ने जो कुशलता दिखाई, वह अन्य पात्रों से आशा नहीं की जा सकती। इनकी प्रारंभ से ही रुचि नारि के सौंदर्य और प्रेम के चित्रण की ओर रही है। यदि एक ओर वे देवियों के चित्र अंकित करने में सफल हैं तो दूसरी ओर दानवी-चरित्रों की सृष्टि में भी कम सिद्धहस्त नहीं। अनन्तदेवी, मागन्धी और छलना इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

कथोपकथन भी प्रसादजी के नाटकों में बहुत सुन्दर, स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक बन पड़ा है। स्वगत की योजना को यद्यपि आधुनिक नाट्यशास्त्री अस्वाभाविक मानने लगे हैं, फिर भी प्रसाद-जी के नाटकों की जटिल कथावस्तु के लिए यह अनिवार्य है। महा-मुनि भरत के वाक्यों का विरोध करते हुए इन्होंने युद्ध, रक्तपात, इत्यादि वर्जित दृश्यों के दिखाने का भी प्रयत्न किया है। हास्य की योजना इनके नाटकों में पूरी तरह नहीं हो सकी है क्योंकि प्रसाद-जी गंभीर प्रकृति के मनुष्य हैं। इनके स्मित में वेदना मिली रहती है। अतः हास्य में भी गंभीरता का पुट आ गया है। संस्कृत नाटकों की तरह प्रसाद जी के नाटकों में भी ब्राह्मणों ने ही हँसाने का ठीका ले लिया है जो आजकल हेय मनोवृत्ति समझी जाती है।

प्रसादजी के नाटकों में देश-प्रेम की भावना बड़ी गंभीर है। भारतीय गौरव का चित्र जहाँ आता है, वहाँ लम्बे दृश्य उपस्थित कर दिए जाते हैं। राज्यश्री में चीनी सुएनच्वाँग भारतीय दान देखकर अवाक रह जाता है। इस देश प्रेम के कारण नाटकों में कुछ

शिथिलता आ गयी है। अभिनेयता भी प्रसादजी के नाटकों में नहीं है—ऐसा कुछ लोगों का कथन है। उनकी दलील है कि प्रसादजी नाट्य-विशेषज्ञ नहीं हैं; किन्तु प्रसादजी ने स्वयं लिखा है—"रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह हो कि नाटक के लिए रंगमंच हों, जो व्यावहारिक है!"

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'महात्मा ईशा' नामक एक सुन्दर नाटक की सृष्टि की है। इस नाटक में अभिनय की आवश्यकताओं की पूर्ति की गयी है। नाटक में देव, दानव, देवियाँ, राक्षसियाँ इत्यादि सभी पात्रों का समावेश है। चरित्र-चित्रण की हैसियत से भी नाटक सुरुचि-पूर्ण और स्वाभाविक हुआ है। प्रायः सभी रसों का सुन्दर परिपाक भी हुआ है। आप के कई एकांकी नाटक भी हैं जिनमें 'अफजल-बध' बहुत सुंदर हुआ है। बध के दृश्य की केवल सूचनामात्र दी गयी है। शायद ऐसा इन्होंने भरत मुनि के वाक्यों का उल्लंघन न करने के लिए ही किया है। आपके प्रहसनों में शिष्ट हास्य को उद्दीप्त करने की सुन्दर सामग्री प्रस्तुत की गयी है। पं० गोविन्दवल्लभ पंत के 'वरमाला' का कथानक मारकण्डेय पुराण से लिया गया है। इसमें प्रेमी मन का सुन्दर विश्लेषण है। कभी-कभी घृणा किसी घटना-विशेष से ठोकर खाकर अनायास ही प्रेम में परिणत हो जाती है। वास्तव में घृणा प्रेम का दूसरा रूप है, जो रंग बदलने के लिए प्रतिपल अवसर ढूँढ़ता रहता है। 'अंत:पुर के छिद्र' में गीति-तत्व की प्रमुखता है और इसका उद्देश्य भी 'वरमाला' की भाँति नारि-मन का ही चित्रण है। पद्मावती भगवान अमिताभ के सात्विक प्रेम में पागल है; किन्तु यह सात्विक प्रेम कामाकर्षण में परिणत होते-होते बचता है। पद्मावती इसे संभाल लेती है, किन्तु मागंधी तामसी विचार धारा में बह जाती है और भगवान अमिताभ से प्रतिशोध लेना चाहती है। इन दोनों नारि-

पात्रों के मन का तथा उदयन के मन पर इनकी प्रतिक्रियाओं का सुन्दर विवेचन लेखक कर सकता था; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है—जैसे वह थियेटर के लिए ही लिखने को बैठा हो। फिर भी पंतजी को रंगमंच का व्यावहारिक अनुभव है। उन्होंने मूक दृश्यों की उद्भावना की है; किन्तु 'वरमाला' के प्रथम अंक के दूसरे दृश्य में तो जैसे पूरी अस्वाभाविकता आ जाती है। अवीक्षित का वैशालिनी के हरण करने पर भी सभी नरेशों का मूक बैठे रहना अस्वाभाविकता के सिवा कुछ नहीं है। स्वप्न दृश्यों का प्रयोग एक कलापूर्ण विचित्रता है, जो शायद पहले-पहल पंतजी ने ही किया है। इससे नाटक के रंग-सौन्दय की श्री-वृद्धि होती है। भाषा कोमल गद्य-गीतों की चंचल मुस्कुराहट से भरी हुई है। जो भी हो, पंतजी को इन दोनों नाटकों के संबंध में एक सफल नाटककार मानना ही होगा।

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' काफी ख्याति प्राप्त कर चुका है। इसका अभिनय जबलपुर हिंदीसाहित्य-सम्मेलन के अवसर पर बहुत सुन्दरता के साथ हुआ था। नाटक के आरंभ में विद्यार्थियों को अमरकोष पढ़ाने की प्रवृत्ति में कुछ अस्वाभाविकता आ गयी है। इसके प्रारंभ में प्रस्तावना देकर प्राचीन नाट्य-शास्त्र के नियमों की रक्षा की गयी है। पंडित बद्रीनाथजी भट्ट की दुर्गावती बड़ी सुन्दर है। स्थान स्थान पर हास्य की योजना भी की गयी है। गंभीर परिस्थितियों के बीच अनावश्यक हास्य कहीं-कहीं भावों पर आघात पहुँचाता है।

पं०लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में मुक्ति का रहस्य सर्वश्रेष्ठ है। 'सिन्दूर की होली' भी कम सुन्दर नहीं। 'अशोक' में तो सैकड़ों भद्दी भूलें की गयी हैं। 'संन्यासी' में भी कोई कम सफलता नहीं मिली। 'अशोक' का धर्मनाथ तो 'प्रसादजी' के चन्द्रगुप्त की भद्दी नकल है। ऐतिहासिक के बदले यदि आप सामाजिक नाटक लिखते तो आपकी

अधिक सफलता की आशा की जा सकती थी। 'प्रताप-प्रतिज्ञा' जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' का सुन्दर नाटक है। अभिनय का ध्यान रखकर दृश्यों को बहुत छोटा किया गया है। वर्जित दृश्यों को रंगमंच पर दिखाने की चेष्टा नहीं की गयी है। उन्हें सूच्य वस्तु के अंतर्गत ला दिया गया है।

इसके अतिरिक्त श्री हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्द दास, श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री उदयशंकर भट्ट, आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव, जी० पी० श्रीवास्तव इत्यादि ने भी सुन्दर नाटक लिखे हैं। आंग्लसाहित्य के प्रभाव ने एकांकी नाटकों का जन्म दिया है। एकांकी नाटक लिखनेवालों में डा० रामकुमार वर्मा, प्रो० अर्जुन चौबे 'काश्यप', सेठ गोविन्द दास, भुवनेश्वर प्रसाद, उपेन्द्रनाथ अश्क, गणेश प्रसाद द्विवेदी, भगवतीचरण वर्मा तथा श्री व्यथित हृदय का नाम गर्व से लिया जा सकता है। वर्माजी और 'काश्यप' जी ने आन्तरिक संघर्ष बड़ी कुशलता से व्यक्त किया है। काश्यपजी के नाटकों की खास विशेषता उनकी चुभती हुई शैली है जो जनता के हृदय को बरबस आकृष्ट कर लेती है। वर्माजी के कुछ नाटकों को समस्या-प्रधान कहा जा सकता है। नाटक का भविष्य 'प्रसाद' के बाद अंधकार में पड़ा हुआ है। नहीं कहा जा सकता, आये दिन इसे कौन सौभाग्य या दुर्भाग्य प्राप्त होगा ?

हिन्दी का निबंध-साहित्य।

आधुनिक युग गद्य का युग माना जाता है। गद्य का आरम्भ ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में समझना चाहिए। इसे गद्य-युग मानने का कारण है—इसमें गद्य रचनाओं का प्रचुर निर्माण। गद्य-रचनाएँ इस युग के पूर्व में भी की जाती थीं; किन्तु उसी प्रकार, जिस प्रकार आज पद्य-रचनाएँ की जाती हैं। आज के साहित्य को समृद्ध बनाने में तीन चीजों का काफी महत्व रहा है—कहानी, उपन्यास और नाटक। किन्तु इन तीन की भिन्न-भिन्न शैलियों के अतिरिक्त भी एक और शैली की रचना साहित्य में पूरी प्रौढ़ता के साथ हो रही थी, जिसे आज हम निबंध कहते हैं। निबंध से मेरा तात्पर्य उन सरल भाषाओं में व्यक्त किये गये राजनीतिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक तथा अर्थशास्त्रीय आदि लेखों से नहीं, जिनमें केवल भाव येन-केन प्रकारेण व्यक्त कर दिये जाते हैं, वरन मेरा तात्पर्य उन साहित्यिक निबंधों से है, जो अपने अन्दर भाव और शैली की काफी प्रौढ़ता रखते हैं।

आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसीको कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व की अथवा व्यक्तिगत विशेषता हो। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों

की शृंखला रखी ही न जाय या जान-बूझ कर जगह-जगह से तोड़ दी जाय या भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाय, जो उनकी अनुभूति या प्रकृत या लोक सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाव से सरकसवालों की-सी कसरतें या हठयोगियों के-से आसन कराये जायँ, जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो। *

एक अँगरेज लेखक ने निबंध की परिभाषा यों दी थी—"निबंध किसी विषय या उसके किसी अंश पर साधारण कलेवर की रचना है जिसमें पहले परिपूर्णता की झलक रहती थी, किन्तु आज क्षेत्र सीमित रहने पर भी शैली प्राय: प्रौढ़ एवं परिमार्जित होती है।" यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है, तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है। इसीलिए गद्यशैली के विवेचक उदाहरणों के लिए अधिकतर निबंध ही चुना करते हैं। +

निबंधों का स्वरूप स्थिर करने के लिए अंग्रेजी साहित्य की ओर दृष्टिपात करना होगा; क्योंकि निबंध के क्षेत्र में साहित्य का पूर्ण प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव केवल हिन्दी साहित्य तक ही सीमित नहीं रहा, प्रत्युत् सारे भारतीय साहित्यों पर पोचारा लगाता गया। कारण स्पष्ट है। यह मानवी प्रकृति है कि वह अपनी निकटस्थ चीजों से अधिक और सरलता से प्रभावित हुआ करता है—अंग्रेजों का सम्पर्क ज्यों-ज्यों भारत में बढ़ता गया, त्यों-त्यों उनका प्रयत्न इसे राजनीति द्वारा शासन करना ही नहीं रहा वरन् इसपर अपनी संस्कृति का विस्तृत प्रभाव डालना भी रहा और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत में पश्चिमीय शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था

*हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल ; पृष्ठ ६०५

+ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल ; पृष्ठ ६०५।

की गयी। ऐसी स्थिति में भारतीय साहित्य का अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित होना अनिवार्य था। भारतीय साहित्य में अभी तक निबन्ध नाम की कोई स्पष्ट चीज न थी, जब कि अंग्रेजी साहित्य में इसकी रचना सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही फ्रांसिस बेकन द्वारा आरम्भ कर दी गयी थी। हिन्दी के विद्वानों ने फ्रांसिस बेकन के निबन्धों का अनुकरण कर साहित्य में एक नवीन शैली का आविर्भाव किया, यद्यपि आज का स्पष्ट और निखरा रूप, जो हमारे सामने है, उस समय नहीं था।

अब यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि निबन्ध क्या एक बिलकुल ही नयी चीज थी, जो आंग्ल-साहित्य से हिन्दी-साहित्य में घसीट लायी गयी या इसका कोई स्वरूप, वह धूमिल ही रूप में क्यों न हो, हमारे साहित्य के अन्दर वर्तमान था? उत्तर में यही कहना होगा कि स्वरूप था तो अवश्य, किन्तु गद्य-रूप में नहीं, पद्य रूप में। प्राचीन समीक्षकों का काव्य के विविध अंगों पर विवेचन यद्यपि पद्य में है, फिर भी एक प्रकार का निबंध ही है। कहीं-कहीं तो इस विवेचन का स्वरूप चम्पू में मिलता है। संस्कृत तो दूर की वस्तु है, हिन्दी के 'रीतिकाल' तक यही अवस्था थी। आधुनिक काल-जैसे निबन्धों का आरम्भ तो भारतेन्दु-काल में हुआ, जो आंग्ल-साहित्य से पूरी तरह प्रभावित था। अतः हमें गहराई में जाने के पहले अंग्रेजी निबन्धों की ओर दृष्टिपात करना होगा।

अंग्रेजी में निबन्ध के पर्यायवाची शब्द का सामान्य अर्थ है—अभिप्सित विषय के निरूपण का प्रचारमात्र। बेकन ने इसे 'उच्छिन्न चिन्तन' Dispersed meditation कहा है। किन्तु दोनों का अर्थ एक ही आता है। न प्रयास में ही गम्भीरता है, न उच्छिन्न-चिन्तन में ही। तात्पर्य यह कि दोनों के अनुसार निबन्ध में गम्भीर तत्वों का विवेचन संभव नहीं। जब तक इसमें हल्कापन या सरलता

है तभी तक वह निबन्ध है। जहाँ बनावटीपन की बू आने लगी और शैली की दुरूहता बढ़ी कि निबन्ध निबन्ध न रहकर प्रबन्ध हो गया। क्योंकि ऐसी स्थिति में उससे साहित्यिकता और रोचकता दोनों ही जाती रहती है।

अंग्रेजी के लेखों में इस रचना-प्रणाली का बड़ा महत्त्व है; किन्तु इससे शैली का कसाव कम जाता है और लेखक के सम्बन्ध में अधिक बातें ज्ञात होती हैं। यही कारण है कि जॉनसन ने इसे 'अव्यवस्थित रचना' कहा है। क्रैब ने भी 'अनिवार्यतः अगूढ़ रचना' कहा है। किन्तु जो लोग निबंध को गद्य-साहित्य का एक प्रधान अंग मानते हैं, उनके लिए इसे 'अव्यवस्थित और अगूढ़ रचना मानना' सम्भव नहीं।

अंग्रेजी के निबंध-लेखक तो व्यक्तित्व की झाँकी प्रदर्शित करने में सत्य वस्तु को ही भूल बैठते हैं। निबंध में अपने व्यक्तिगत विचारों के चित्रण के लिए प्रस्तुत विषय से हटकर विषयांतर हो जाते हैं। हिन्दी के कुछ लेखकों में भी यही प्रवृत्ति पायी जाती है; किन्तु हिन्दी के लेखकों का विषयांतर छोटा और ग्राह्य होता है, जब कि अंग्रेजी लेखकों के विषयांतर पूरे लम्बे होते हैं। जहाँ तक विषयांतर का प्रश्न है, लेखक अपनी इच्छानुसार विषय से हट सकते हैं; किन्तु उन्हें इसका सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये कि विषयांतर भी यथाप्रसंग ही हो।

निबंधों की कई एक प्रणालियाँ हो सकती हैं। कुछ में विचारों का बाहुल्य तथा तथ्या तथ्य-विवेचन का आधिक्य रहता है। ऐसे निबंधों को विचारात्मक निबंध कहते हैं। कुछ लेखों में लेखक का लक्ष्य भावोद्रेक करना तथा रस-संचार करना होता है। ऐसे निबंध भावात्मक निबंध हैं। इन दोनों भेदों के अतिरिक्त निबंधों का एक और भेद भी कुछ लोग मानते हैं। इसका नाम वर्णनात्मक निबंध दिया जाता है।

+ जब लेखक का उद्देश्य न तो विचारों को प्रभावित करना ही होता है, न भावों का उद्रेक ही, तब इस तरह के निबंधों की सृष्टि होती है। मात्रा इत्यादि के विवरण इसके अन्तर्गत आ सकते हैं। प्रवीण लेखक प्रसंगानुसार इन विधानों का बड़ा सुन्दर मेल भी करते हैं। लक्ष्यभेद से कई प्रकार की शैलियों का व्यवहार देखा जाता है—जैसे विचारात्मक निबंधों में व्यास और समास की रीति। भावात्मक निबंधों में धारा, तरंग और विक्षेप की रीति। वर्णनात्मक निबन्ध में इस तरह की सरल और सुव्यवस्थित शैली दी जाती है, जिसमें वर्ण्य सामग्री के अणु-अणु पाठक के सामने आते दिखाई पड़ें।

बहुत लोगों ने निबन्धों की और-और श्रेणियाँ भी रखी हैं—जैसे रचनात्मक, अनुसन्धानात्मक, गवेषणात्मक, आत्मव्यंजक, मनोरंजक, कथात्मक इत्यादि। रचनात्मक निबन्ध में हम अपनी कल्पना द्वारा एक संश्लेषणात्मक कार्य करते हैं। आलोचनात्मक में विश्लेषणात्मक। पहले में बिखरे हुए तत्वों को विभिन्न भावों और परिस्थितियों से भी एक स्थान पर एकत्रित किया जाता है। दूसरे में वस्तु तैयार रहती है और हम उसके अणु-अणु अलग कर उसके तथ्यातथ्य पर विचार करते हैं। दोनों की प्रक्रिया में अन्तर है। उपन्यास और नाटकों में घटनात्मकता सत्य को व्यंजित करने के लिए होती है। निबंधों में वही घटनात्मकता विचारात्मकता में परिणत हो जाती है। अनुसन्धानात्मक निबंधों में खोज की रिपोर्टें रहती हैं। ये वर्णनात्मक निबन्ध के अन्तर्गत भी रखे जा सकते हैं। गवेषणात्मक निबंधों में विचारों के मंथन द्वारा जीवन के सत्य का अनुसन्धान करते हैं। अनुसन्धानात्मक निबंधों में केवल तर्क से काम नहीं चलता, पर गवेषणात्मक निबन्धों में तर्क ही प्रधान है। आत्म-व्यंजक निबंधों में आत्म-व्यंजना की प्रेरणा

+ आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास—कृष्णशंकर शुक्ल ; पृष्ठ १८

v हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल ; पृष्ठ ६०५

भाव या विचार से मिलती है; अतः इन्हें भी आवश्यकतानुसार भावात्मक या विचारात्मक में स्थान दे सकते हैं। मनोरंजक निबंधों में गम्भीर तत्वों का विवेचन सम्भव नहीं, बहुत ही हल्के तरीके से भावों को व्यक्त किया जाता है। श्री गुलाब राय के लेख 'मेरी असफलताएँ' इसके अन्तर्गत आ सकती हैं। 'मजनू की चिट्ठियाँ' और 'बनारसी एक्का' भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। गम्भीर तथ्यों का विवेचन गवेषणात्मक या विचारात्मक निबन्धों में ही सम्भव हो सकता है। इस विचार से 'हरिऔध' जीके निबंध भावात्मक, 'शुक्ल-जी' के गवेषणात्मक और 'जैनेन्द्र' के विचारात्मक हैं। किन्तु इसमें मतभेद भी सम्भव है क्योंकि 'शुक्लजी' की 'चिन्तामणि' के अधिकतर लेख—जैसे 'भाव या मनोविकार' उत्साह, करुणा, घृणा, भय, क्रोध इत्यादि भावात्मक निबंधों के अन्दर आयेंगे।

निबंध के स्वरूप पर यथा-संभव विचार हो चुका, अब विकास की ओर उन्मुख होना चाहिये। संस्कृत साहित्य में नाटक, काव्य, आख्यायिका इत्यादि लिखने की प्रथा थी, किन्तु निबंध की नहीं। अतः हिन्दीसाहित्य को पैतृक सम्पत्ति के रूप में केवल उपर्युक्त तीन ही मिले। निबंध, युग का एक नया प्रयोग हुआ। निबंध का पूर्व रूप हमें श्री दयानन्द सरस्वती तथा इन के प्रतिवाद करनेवाले श्री पंडित श्रद्धाराम फुलौरी के धार्मिक खंडन-मंडन में मिलता है। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से इन लेखों का कोई मूल्य नहीं आँका जा सकता। हाँ, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने निश्चय ही निबंध लिखे जो आज हमारे साहित्य की निजी सम्पत्ति हैं। अतः जन्मदाता का गौरवपूर्ण पद भारतेन्दु के सिवा किसी अन्य को प्राप्त नहीं हो सकता। इन्होंने जिस तरह भाषा के अन्य अंगों की पूर्त्ति की, उसी तरह निबंध की भी। इनकी प्रेरणा से और लोगों ने भी लिखना आरम्भ किया, जो यद्यपि थोड़े थे, फिर भी कम महत्व के न थे। समस्त दिनमान से

अधिक महत्व उस कलरव-कूजित स्वर्णिम ऊषा का है, जो रात के अवसान का और दिन के आगमन का सूचक होता है। भारतेन्दुजी के लेख भविष्य के अग्रदूत थे। इन लेखों ने पथ-प्रदर्शन का काम किया। 'संगीतसार' और 'खुशी' इनके दो सुन्दर लेख हैं—

"हमारे प्रबन्ध के पढ़नेवालों को एक ही रागिनी का नाम बारंबार कई रागों में देखकर आश्चर्य होगा। यह हमारा दोष नहीं। यह संगीतशास्त्र के प्रचार की न्यूनता से ग्रन्थों में गड़बड़ी हो गई।"

—संगीतसार

श्री जगन्नाथ प्रसाद शर्मा हिन्दी गद्यशैली के विकास में लिखते हैं—"यों तो सभी विषयों पर कुछ न कुछ लिखा जा रहा था, परन्तु निबन्ध-रचना का स्वच्छ और परिष्कृत रूप भट्ट-जी तथा मिश्रजी ने उपस्थित किया। उनलोगों ने छोटे-छोटे विषयों पर अपने स्वतन्त्र विचार लिपिबद्ध किए। इस प्रकार निबन्ध-रचना का भी हिन्दी गद्य में आरम्भ हुआ। इन लोगों के निबंध वास्तव में निबंध की कोटि में आते हैं। पर अभी तक उनमें वैयक्तिक अनुभूति की सम्यक् व्यंजना नहीं होती थी। यह आरंभिक काल था; अत: पूर्णता का अभाव रहना स्वाभाविक ही था। रचना का यह प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि पाता गया और अविरत रूप में आज तक चला आ रहा है। इसमें क्रमश: अनुभूति-व्यंजन और तर्क का रूप विकसित होने लगा।"

किन्तु, ये दोनों भी भारतेन्दु की ही देन थे। साहित्य की सृष्टि करने की अपेक्षा साहित्यकारों की सृष्टि करने में ही भारतेन्दुजी को अधिक श्रेय है। इनके समय में पं० बालकृष्ण भट्ट, प्रताप-नारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी प्रेमधन, लाला श्री निवासदास, बाबू तोताराम, मुंशी ज्वाला प्रसाद, अम्बिकादत्त व्यास, केशवराम भट्ट प्रभृति अनेक लेखक हुए। भारतेन्दु के पारस से छूते ही ये काँच

से कंचन हो गये। इन लेखकों ने समाज के प्रत्येक अंगों से सम्बन्धित चीजों पर साहित्यिक निबंध लिखा। पर्व-त्योहार तक न छुटे। होली, दीपावली, विजयादशमी तथा रामलीला निबंध के शीर्षक बने। इनमें जनता के जीवन तथा विलास का रंग पूरा-पूरा दिया गया। इन लेखों में वर्णनात्मक तथा भावात्मक दोनों विधानों का बड़ा सुन्दर मेल है।

उपर्युक्त लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट तथा प्रतापनारायण मिश्र के निबंधों में इसके अंगों का सम्यक् विकास हुआ। अंग्रेजी साहित्य के स्टील और एडीसन की भाँति ही यह जोड़ी भी अमर रहेगी। 'भट्ट' जी को तो एडीसन से कुछ भी कम नहीं कहा जा सकता। अतः हम यदि इन्हें निबन्ध-साहित्य का जन्मदाता कहें तो अत्युक्ति न होगी। इनकी रचनाएँ मिश्रजी से अधिक सुरुचि-सम्पन्न हैं। भट्टजी 'हिन्दी-प्रदीप' के सम्पादक थे और बत्तीस वर्षों तक आप अनवरत हिन्दी की सेवा करते रहे। इस बीच में इन्होंने लगभग डेढ़ सौ सुन्दर हिन्दी निबंध लिखे। इनकी शैली बड़ी ही चमत्कारपूर्ण और भाव-व्यंजना बड़ी ही सुन्दर ढंग से हुई है। यद्यपि शैली संस्कृत-प्रधान है, फिर भी और भाषा के प्रति कम उदारता नहीं है। शब्दों के चुनाव में पूरी स्वच्छंदता दिखाई पड़ती है। आवश्यकता पड़ने पर ही अँग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया गया है। उर्दू-फारसी के शब्द भी आये हैं, किन्तु अधिकतर विनोद के लिए। भाषा परिष्कृत नहीं है। वाक्य भी सुसंगठित नहीं। क्रियाओं का रूप भी कहीं-कहीं अपरिष्कृत आया है। अतः हम भट्टजी को शुद्धवादियों में स्थान नहीं दे सकते।

विषय-चयन भट्टजी की एक खास विशेषता थी। साधारण विषयों पर भी इन्होंने सुन्दर से सुन्दर लेख लिखे हैं। जैसे कान, नाक, आँख, बातचीत, पैसा, नहीं, दीर्घायु, वकील, इंगलिस पढ़ै सो बाबू होय, पसंद, ला, एक पत्नीव्रत, मनोविज्ञान, माँ, दोस्ती, चरित्रपालन इत्यादि।

इनकी विभिन्न शैली का सुन्दर नमूना देखिए—

"यह जानवर ब्रिटिश राज्य के साथ ही साथ हिन्दुस्तान में आया। पुराने आर्यों के समय इनका कहीं पता भी नहीं लगता।"

'साधारण रीति पर विचार करने से निश्चय होता है कि हमलोगों का समस्त ज्ञान दो प्रधान भागों में विभक्त है। पहला मूर्ति-विषयक अर्थात् जड़-जगत्-सम्बन्धी और दूसरा अमूर्ति-विषयक अर्थात् अन्तर्जगत्-सम्बन्धी।'

कहीं-कहीं मुहावरों के सुन्दर समावेश से भाषा में एक संगठन उत्पन्न हो गया है तथा वह प्रौढ़ता पर आ गई है। जैसे—"वही हमारी साधारण बातचीत का ऐसा घरेलू ढंग है कि इसमें न करतल-ध्वनि का कोई मौका है, न लोगों के कहकहे उड़ाने की कोई बात उसमें रहती है। हम-तुम दो आदमी प्रेमपूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई–हँस पड़े तो मुस्कराहट से ओठों का केवल फरक उठना ही इस हँसी की अंतिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य अपने सुनने-वालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इसमें स्पीच की वह सब संजीदगी बेकद्र हो धक्के खाती फिरती है।"

'भट्ट' जी के सम्बन्ध में एक और बात अत्यन्त मार्के की है। इनके निबन्धों में भावात्मकता के साथ-साथ काव्य का आनन्द भी मिलता है। फलस्वरूप कुछ निबन्धों ने तो गद्य-काव्य का रूप धारण कर लिया है। भट्टजी केवल निबन्धों के ही नहीं, गद्य काव्यों के भी पिता हैं। गद्य-काव्य रचने में, काल्पनिक विचारशैली की भी जो नितान्त आवश्यकता है, भट्टजी ने कमी नहीं की है। इनके चंद्रोदय और आँसू शीर्षक लेख इसके प्रमाण हैं—

"कुईं की कलियों को विकसित करते, मृगनयनियों के मान को समूल उन्मीलित करते, छिटकी हुई चाँदनी से दशों दिशाओं को

ध्वनित करते, अंधकार को निकालते, सीढ़ी पर सीढ़ी शिखर के समान आकाश-रूपी विशाल पर्वत के मध्य भाग में चढ़ा चला आ रहा है। क्षमा तमस्फाणु को हटानेवाला यह चन्द्रमा ऐसा मालूम होता है, मानो आकाश-महासरोवर में श्वेत-कमल खिल रहा है। उसमें बीच बीच में जो कलंक की कालिमा है, सो मानो भौंरे गूंज रहे हैं।"

पं० बालकृष्णजी के बाद पं० प्रतापनारायण मिश्र का स्थान आता है। भाषा की दृष्टि से भट्टजी से विशुद्ध परिपाटी आपकी है। भट्टजी ने नागरिक साहित्य की सृष्टि की, पर छोटे-छोटे विषयों को लेकर महत्वपूर्ण निबन्ध लिखना आप ही का काम है। हास्य, व्यंग्य, चुहलचुटकी बड़ी सुन्दरता के साथ निभाए गए हैं। विनोद की मात्रा आपके लेखों में इतनी अधिक है कि लेखक के साथ पाठक की घनिष्ठता शीघ्रातिशीघ्र स्थापित हो जाती है और लेखक चिर-परिचित-सा लगने लगता है। इन्होंने भी वात, वृद्ध, भौं, दाँत इत्यादि साधारण से साधारण विषयों पर भी बड़े सुन्दर तरीके से स्वतंत्र विचार किया है। जिसपर लिखने से बड़ा उपकार हुआ। नित्य व्यवहार की चीजों पर भी इतना सुन्दर कुछ कहा जा सकता है, इसका बड़ा सुन्दर नमूना इन्होंने पेश किया। मिश्रजी के सम्बन्ध में तो बहुतों की धारणा ऐसी थी कि इनकी प्रतिभा केवल साधारण साहित्य की सृष्टि तक ही सीमित है और ये उच्च कोटि का साहित्य पैदा नहीं कर सकते, केवल भ्रम है। मनोयोग और स्वार्थ-जैसे भावात्मक विषय पर भी स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करना मिश्रजी का ही काम था। यह बात दूसरी थी कि भट्टजी के मुकाबिले में इन्होंने निबंधों की भावुक व्यंजना न की हो, परन्तु जो कुछ पत्र पुष्पस्वरूप इन्होंने लिखा है, वह भण्डार का अमर रत्न ही रहेगा।

इनके लेखन-प्रणाली में हमें एक चमत्कार मिलता है—जन-समाज को अपनी ओर खींचना। इनके लेखों के साथ जन समाज की रुचि

तथा व्यक्तित्व की छाया सदैव दृष्टिगोचर होती है। अपने स्वभाव के अनुकूल ही आपका विषय-निर्वाचन भी होता था। रचना आत्मीयता के भाव से ओत-प्रोत रहती थी। साधारण बातों को सरल रूप में रखकर वे पाठक का विश्वास अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। यही कारण था कि हिन्दी-पाठकों की व्यापक संख्या न होने पर भी इन्होंने एक नवीन पाठक-समूह उत्पन्न कर लिया था।

शैली के सम्बन्ध में मिश्रजी की शैली भट्टजी की शैली से ही मिलती-जुलती है। संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है, क्योंकि मिश्रजी संस्कृत शब्दों के प्यारे थे। मुहावरों के प्रयोगों में वही विनोदी प्रकृति की झलक मिलती है। गले पर छुरी चलाना, मीन-मेख न होना, भण्डा फोड़ना, कंचन बरसना इत्यादि। भाषा में कहीं-कहीं श्लेष अलंकारों की-जैसे झड़ी लग गयी है। भाषा का रूप अस्थिर देख पड़ता है। भाषा का जितना विकास इनके समय तक हो चुका, उसका भी ये ठीक तरह उपयोग न कर सके। इस तरह इनकी शैली एक पिछड़ी हुई शैली है। इनकी भाषा में पंडिताऊपन और पूरबी-पन तो साफ झलकता है, देहाती शब्दों के प्रयोग ने भाषा में ग्रामीणता ला दी है। विराम आदि चिह्नों का ठीक-ठीक प्रयोग न होने से भावव्यंजना में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई है, भाव के समझने में बड़ी उलझन उपस्थित हो जाती है। भाषा इस समय की पूरी परिपक्व हो चली थी, किन्तु इनकी शैली में परिपक्वता नहीं आ पाई और भाषा अनियंत्रित तथा पुरानी ही रह गयी।

भाषा-संबंधी त्रुटियों के साथ-साथ व्याकरण की भी कम भूलें नहीं। जात्याभिमान, उपरोक्त इत्यादि शब्द प्रयोग में आये हैं। किन्तु सब होते हुए भी इनकी भाषा में एक विचित्र बाँकापन है—कहने का अपना खास ढंग और वह भी अत्यन्त रोचक। जहाँ भावात्मक शब्दों की अभिव्यक्ति करनी होती थी, वहाँ इनकी शैली काफी प्रौढ़

हो जाती थी। यद्यपि विरामादि की भावभंगी वही रहती थी, फिर भी शब्दों में काफी हेर-फेर हो जाता था। इनके निबन्धों के तीन सुन्दर संग्रह हैं— (१) निबंधनवनीत, (२) प्रताप-पीयूष तथा (३) प्रताप-समुच्चय। इनकी शैली का एक सुन्दर नमूना नीचे देता हूँ—

"यद्यपि जगत् में और भी अनेक प्रकार की आधि-व्याधि हैं, पर उपाधि सबसे भारी छूत है। सब आधि-व्याधि यतन करने तथा ईश्वरेच्छा से टल भी जाता है; पर यह ऐसी आपदा है कि मरने पर ही छूटती है। सो भी क्या छूटती है, नाम के साथ अवश्य लगी रहती है। हाँ, यह कहिए कि सताती नहीं है।"

—उपाधि

"होली है। आपका सर है यहाँ तो मुसीबत के मारे दिल जलकर होली हो रहा है, और इन्हें होली है।"—

भट्टजी और मिश्रजी के समय में हिंदी की शैली प्रौढ़ हो चली थी; अतः प्रेमघनजी को अब प्रौढ़ता दिखलाने के सिवा और कुछ न रहा। किन्तु इससे भाषा काफी दुरूह हो गयी और हिंदी अभी तक इस स्थिति में नहीं थी कि उसमें जटिलता और विद्वत्ता दिखाने का प्रयास सफल हो सके। अभी इसकी शक्ति उस पक्षि-शावक के सदृश थी, जो स्फुरण-शक्ति का संचय कर रहा हो। प्रेमघन-जी 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्रिका के सम्पादक थे और कभी-कभी तो लेखकों के अभाव में इन्हें ही अद्योपान्त लिखना पड़ता था। इनके निबन्ध कम ही हैं। और इनमें भी कुछ तो ऐसे हैं, जो बिलकुल ही साहित्यिक कोटि में नहीं आते। किन्तु फिर भी कुछ निबंध ऐसे बन आये हैं जिनमें साहित्यिक छटा झलकती है। मित्र, परिपूर्ण, पावस, ऋतु-वर्णन, फाल्गुन इत्यादि इनके सुन्दर निबन्ध हैं। इनके बहुत-से आलोचनात्मक लेख भी हैं। किन्तु ये विशुद्ध निबंध कहे जाने लायक नहीं। भट्टजी या मिश्रजी के सदृश इनके निबंधों

का कोई संकलन नहीं प्रकाशित हुआ। वास्तव में इनकी प्रसिद्धि नाटक और पद्यात्मक गद्य लिखने के ही कारण है। इस तरह हिन्दी निबंधसाहित्य की प्रारंभिक रूप-रेखा का निर्माण भट्टजी, मिश्रजी तथा प्रेमघनजी ने किया।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के अभ्युदय के साथ-साथ निबंध-साहित्य का दूसरा युग आरंभ हो जाता है। इन्होंने भारतेन्दु-युग की हिन्दी का परिमार्जन किया। भाषा, भाव एवं शैली को परिष्कृत करने का श्रेय इन्हीं को है। सर्वप्रथम इन्होंने अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबंध-लेखक बेकन के निबंधों का अनुवाद आरंभ किया और पीछे इन्हें वे 'बेकन-विचार-रत्नावली' के नाम से प्रकाशित किया। हिन्दी के पाठकों की संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ रही थी। यह १६०० ई० का युग था। नागरी प्रचारिणी सभा सरकार की सहायता से हस्तलिपियों की खोज कर रही थी। न्यायालयों में भी हिन्दी ने आश्रय ढूँढ़ लिया था और सरस्वती का प्रकाशन तो पंडितजी के सम्पादकत्व में जोर-शोर से चल ही रहा था। हिन्दी सर्वतोमुखी प्रतिभा पकड़ रही थी। इसी समय प्रसिद्ध मराठी लेखक चिपलूणकर के निबंधों का अनुवाद गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने किया और निबन्धमालादर्श बड़ी धूम-धाम से निकला। उच्च कोटि का साहित्य प्रस्तुत करने का अवसर द्विवेदीजी को नहीं था। इनका काम अपने पाठकों को नवीन-नवीन भावनाओं से परिचित कराना था। किसी बात को सरल और बोधगम्य भाषा में कहना द्विवेदीजी की खास विशेषता थी। इनके विचार से वाक्यों में जटिलता बढ़ाना कोई खास महत्त्व नहीं रखता था। किसी गूढ़तम रहस्य को सुलझाने में भी शब्दजाल का विस्तार नहीं करते थे। थोड़े-से सुगम शब्दों में इस प्रकार वे पाठक के सामने चीजें रखते थे कि थोड़ी देर के लिए पाठक भी आश्चर्यचकित हो जाता था। भाषा इनके संकेतों पर भावों को व्यक्त करती हुई चलती थी।

द्विवेदीजी के अधिक निबंध विचारात्मक कोटि के हैं। किन्तु फिर भी भावात्मक निबन्धों की कोई कमी नहीं। शैली पर विचार करने के लिए एक दृष्टान्त सामने रखना श्रेयस्कर होगा।

"खुशामद के जमाने में कविता की बुरी हालत होती है। जो कवि राजों, नवाबों या बादशाहों के आश्रय में रहते हैं अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनको खुशामद करनी पड़ती है। वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं कि उनकी उक्तियाँ असलियत से दूर जा पड़ती हैं। इसी से कविता को बहुत हानि पहुँचती है; विशेषकर शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है—आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं।

—कवि और कविता

यही द्विवेदीजी की शैली का नमूना है। अधिकांश में यही शैली उनके लेखों में पायी जाती है। इसमें उर्दू और संस्कृत दोनों के शब्दों का बाहुल्य है। फिर भी वाक्यों में कम बल नहीं, बल्कि गम्भीरता आ गयी है। उच्छृंखलता का तो नाम तक नहीं, शैली भी पूरी संयत तथा धाराप्रवाहिक है।

गम्भीर विषयों पर विवेचन करते समय द्विवेदीजी एक अलग ही शैली का प्रयोग करते हैं। यहाँ भाषा विशुद्ध हिन्दी के रूप में झुक जाती है। वाक्यों की गठन में बेतरह बल आ जाता है; अतः भावव्यंजना में दुरूहता बढ़ जाती है। किन्तु यही उस सर्व-साधारण के लिए लिखते समय इनकी भाषा बिलकुल सरल-सी हो जाती है। संस्कृत के शब्द केवल नाममात्र को मिलने लगते हैं और वाक्य छोटे-छोटे होने लगते हैं।

द्विवेदीजी का महत्त्व एक शैलीकार के रूप में नहीं, किन्तु शुद्ध

भाषा-प्रणाली स्थापित करने में है। व्याकरण का अनुशासन जो आज हम भाषा पर पाते हैं, वह द्विवेदीजी का ही श्रेय है। इन्होंने कभी भी अपना पांडित्य प्रदर्शित करने का विचार नहीं किया, बल्कि संसार के पांडित्य से अपने समकालीन साहित्यिकों को परिचित कराने में ही अपना समय व्यतीत करते रहे। सरस्वती पत्रिका में कभी-कभी तो विदेशी लेखकों की सारगर्भित भाषा का अनुवाद सुन्दरतम ढंग से छापा करते थे। लेखकों पर इसका बड़ा गम्भीर प्रभाव पड़ता था और वे विदेशी साहित्य से टक्कर लेने की बात सोचने लगते थे। दिवेदीजी के बहुत-से लेख भावोद्रेक या रसानुभूति नहीं कराते, वरन् विभिन्न विषयों के परिचायकमात्र हैं। इन्होंने लगभग ढाई सौ निबंधों की रचना की, जो इनके पूर्ववर्ती या परवर्ती सभी निबंधकारों से अधिक हैं। निबंधों के सात संग्रह अभी तक प्रकाशित हो चुके हैं। विचार-विमर्श, रसरंजन, साहित्यसंदर्भ, रेखांजलि, साहित्यसीकर, समालोचना-समुच्चय और आलोचनांजलि।

निबंध-लेखकों में पं० गोविन्दनारायण मिश्र का स्थान भी कोई कम श्रेयस्कर नहीं। आप संस्कृत के प्रकांड विद्वान् थे। भाषा सारगर्भित तथा संस्कृत शब्दों की बहुलता लिए होती थी। छोटे से छोटे विचार की अभिव्यंजना के लिए भी आप उच्च कोटि की भाषा का ही प्रयोग करते थे। वास्तव में भाषा आपके लिए विचारों की अभिव्यंजनामात्र की सामग्री ही नहीं थी, वरन् कला की सच्ची परिचायिका थी।

आप कहते थे—भाषा केवल कला के रूप में ही ग्रहण की जा सकती है। कभी-कभी तो पाठक इस शब्दजाल की भूल-भुलैया में इस प्रकार उलझ जाते हैं कि वे उससे निकलने के बदले अपने को खो जाते हैं। किन्तु इस तरह की भाषा बोधगम्य नहीं होती

तथा ऐसी भाषा में विचार-विनिमय भी सम्भव नहीं। स्वयं पाठक को ऐसी भाषा की सृष्टि करने में घंटों लग जाते होंगे। शैली में एक प्रकार की कृत्रिमता आ जाती है। यह बात दूसरी है कि लेखक इस प्रकार की भाषा लिखते-लिखते अभ्यस्त हो जाय और उसे लिखने में कोई कष्ट न हो। किन्तु ऐसी भाषा को न तो हम गद्यकाव्य ही कहेंगे न कथन का चमत्कारिक ढंग ही। भाषा स्वयं तो लेखक लिख लेता है, लेकिन पाठकों को उसका अर्थ समझना भी कम दुष्कर कार्य नहीं रह जाता। वाह्य कृति भले ही देखने में सुन्दर लगती है, किन्तु भावों को समझते समय पाठकों के मष्तिष्क पर इतना बोझ पड़ता है कि पाठक थोड़े ही समय में थककर बैठ जाता है। अतः इस शैली से मिश्रजी साहित्य को कोई नई चीज नहीं दे सके। इस शैली का किसी ने अनुकरण भी नहीं किया। अच्छा ही हुआ। इस तरह के अनुकरण से भाषा के व्यावहारिक और बोधगम्य रूप पर बड़ा ही धक्का लगता, और सम्भव था कि थोड़े समय के लिए भाषा का प्रवाह ही शिथिल पड़ जाता।

एक अंग्रेजी आलोचक ने डाक्टर जॉनसन की शैली की आलोचना करते हुए लिखा है—जॉनसन की शैली जब अपने पूर्ण प्रवाह में आती है, तो उसमें भयंकरता अत्यधिक बढ़ जाती है। मिश्रजी की शैली की भी यही हालत है। संस्कृत के तत्सम तथा समासान्त पदावली के प्रयोग भाषा को डरावना बना देते हैं। विभक्तियों का प्रयोग कहीं-कहीं तो सुन्दर हो जाता है और माधुर्य की वृद्धि ही होती है; किन्तु कहीं-कहीं तो इस प्रयोग से एक विचित्र भद्दापन झलकता है। जैसे किसी की मिठास का वर्णन करना हुआ तो पंडितजी 'मधुर' शब्द के उपयोग से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते हैं, वरन् उसमें 'सु' विभक्ति जोड़कर उसे 'सुमधुर' कर देते हैं। इस तरह हम

देखते हैं कि मिश्रजी की भाषा अनुप्रासिक होने के कारण श्रुति-मधुर भले ही हो; किन्तु अव्यावहारिक तथा बनावटी-सी लगती है। इनकी रचना की एक झलक देखिये :—

"इसलिए ही बंधमोक्ष भुक्ति मुक्ति के विधाता, परमचंचल चूड़ामन, मन के अत्यन्त सूक्ष्म विमल विशद विस्तृत विचित्र, कोमल से कोमल अछूते...और अप्रतिभ प्रतिभा से सदा अमिट चित्र विचित्र वर्ण-विन्यास रंगीले चटकीले स्थायी रूप से सांगोपांग सर्वांग सुन्दर विचित्र कर दिया करते हैं।"

—कवि और चित्रकार

शब्द-मैत्री के विचार से एक के बाद दूसरे ध्वन्यात्मक शब्द आते-जाते हैं—जैसे पाठक को केवल चमत्कृत करने के लिए ही लिखी गयी हो। प्रतिपाद्य विषय भले ही भूल जाय। मेरी समझ में तो मिश्रजी का निबन्ध पढ़ने का वही पाठक साहस कर सकता है, जो द्राविड़ी प्राणायाम का अभ्यासी हो। बाण और दण्डी ने भी गद्य लिखा था; किन्तु इस तरह एक के बाद दूसरे शब्द को भिड़ाते हुए नहीं चले गये थे। मिश्रजी के निबंधों का एक संग्रह 'गोविन्द-निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

द्विवेदीजी के बाद निबंधकारों में पण्डित माधव मिश्र का एक स्थान है। आप संस्कृत के एक अच्छे विद्वान् तथा सनातन धर्म के पक्षपाती थे। अत: इनके बहुत-से लेख सनातन धर्म के प्रतिपादन एवं इनके विरोधियों तथा विपक्षियों के खंडन में लिखे गये थे। कभी-कभी संस्कृत के पुराणपंथी विद्वानों पर, जो वेद-शास्त्र के सम्बन्ध में कच्चा-पक्का मत प्रकट किया करते थे, ये खूँखार शेर की तरह टूट पड़ते थे और बड़े जोशीले शब्दों में उनकी आलोचना प्रस्तुत करते थे। इस विरोध में तर्क, आवेश और भावुकता, सबका एक अद्भुत मिश्रण रहता था। 'वेशर का भ्रम' इसी जोश में लिखा गया था। इनके

लेख 'सुदर्शन' नामक पत्रिका में, जिसके ये सम्पादक थे, निकला करते थे। यों तो इन्होंने साहित्य संबंधी बहुत-से लेख, समीक्षाएँ तथा निबंध लिखे; किन्तु वे उतने सुन्दर नहीं होते थे। हाँ, जिन-जिन लेखों का सृजन जोश में आने पर हुआ, वे बड़े ही शक्तिशाली निकले।

मिश्रजी की रचना में चमत्कार का बड़ा आकर्षक रूप है। इनकी भाषा बड़ी सतर्क है। कहीं-कहीं क्रमागत भावोदय का सुन्दर चित्र मिलता है। इनकी वाक्य-रचना में बड़ा ओज और बड़ी प्रकाशन-शक्ति है। भाषा-शैली में धारा-प्रवाह का एक सुन्दर रूप दिखाई पड़ता है। इनके निबंध आरंभ से अंत तक पाठक एक साँस में समाप्त करना चाहता है। और यदि सचमुच उसे रुकना ही पड़ा, तो उसे वहाँ निबंध की अपूर्णता साफ खटकने लगती है। लेखों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य अवश्य है; किन्तु फिर भी भाषा संस्कृत-बहुला होने पर भी ऊबड़-खाबड़ नहीं होने पायी है। वह बड़ी ही संयत एवं शिष्ट हुई है। इनकी भाषा में मार्मिक भावनाओं का चित्र स्पष्ट झलकता है। लेख की पंक्तियों में ही एक करुणा की छटा दृष्टिगोचर होने लगती है।

मिश्रजी स्वदेश-प्रेम के सच्चे पक्षपाती थे। देश की इस बेढंगी दशा पर वे चीख उठते थे। राजनीतिक आंदोलनों के साथ इनकी बराबर सहानुभूति रहती थी। मालवीयजी ने जब अहिंसात्मक आंदोलन से भी दूर रहने के लिए छात्रों को आदेश दिया था तो उनके नाम इन्होंने एक खुली चिट्ठी छापी थी। श्रीधर पाठक की कविताओं पर इन्होंने अत्यन्त क्षोभ प्रकट किया था। क्योंकि उनकी सारी कविताओं में प्रफुल्लता और आनंद के पक्ष पर ही दृष्टि डाली गयी थी, भारतीय कंकालवत् शरीरों पर नहीं। इनके कुछ लेखों के नाम इस प्रकार हैं—रामलीला, व्यास पूर्णिमा, हिन्दी भाषा,

काव्यालोचना, स्वदेशी आंदोलन, शिमला-यात्रा, परीक्षा, धृति, क्षमा, होली आदि पर्व-त्योहारों तथा भिन्न-भिन्न ऋतुओं में पड़ने-वाले उत्सवों पर लिखने की परिपाटी जो भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने चलाई थी, वह इनके बाद विलीन हो गई। मिश्रजी के दो भावात्मक निबंध—धृति और क्षमा—बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। इनका एक संग्रह 'माधव मिश्र निबंध-माला' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इनके असमय निधन पर शोक प्रकट करते हुए अपने हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ६१४ में लिखते हैं—

द्वितीय उत्थान के आरंभकाल में इस प्रभावशाली लेखक के उदय की उज्वल आभा हिन्दी साहित्य-गगन में कुछ समय के लिए दिखाई पड़ी, पर खेद है कि अकाल ही विलीन हो गई। पंडित माधव मिश्र के मार्मिक और ओजस्वी लेखों को जिन लोगों ने पढ़ा होगा, उनके हृदय में उनकी मधुर स्मृति अवश्य बनी होगी। उनके निबंध अधिकतर भावात्मक होते थे और धारा-शैली पर चलते थे। उनमें बहुत सुन्दर क्रमपथ का अनुसरण करती हुई स्निग्ध वाग्धारा लगातार चली चलती थी। इनके गद्य का एक सुन्दर नमूना नीचे दिया जाता है।

"× × × जहाँ के महाप्रकाश से दिग्दिगन्त उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब एक अंधकार से घिरा हुआ शून्य प्रदेश टिमटिमा रहा है जिससे कभी-कभी भूभाग प्रकाशित हो रहा है। पाठक! जरा विचार कर देखिए, ऐसी अवस्था में यहाँ कब तक शांति और प्रकाश की सामग्री स्थिर रहेगी? यह किससे छिपा हुआ है कि भारतवर्ष की सुख-शान्ति और भारतवर्ष का प्रकाश अब केवल राम-नाम पर अटका है? राम-नाम ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय की शांति है और वही हमारे अंधे घर का दीपक है।"—

—रामलीला

पंडित बालमुकुन्द गुप्त, उर्दू के एक कुशल संपादक थे। हिन्दी के क्षेत्र में सर्वप्रथम इन्होंने 'बंगवासी' का कलकत्ते से सम्पादन किया। फिर कुछ दिन बाद 'भारत-मित्र' के प्रधान सम्पादक नियुक्त किये गये। पत्र के सम्पादन-काल में इन्होंने विविध विषयों पर निबंध लिखे, जिनमें 'शिवशंभु का चिट्ठा' बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। उर्दू साहित्य से पूरा परिचित रहने से इनकी भाषा में पूरी शिष्टता आ गई थी। गद्य की भाषा के लिए यह परम आवश्यक है कि उसे कोई ऐसा क्षेत्र मिले, जहाँ वह संभाषण में व्यवहृत हो। उर्दू उस समय शिष्ट समाज की भाषा हो गई थी। इसी कारण उर्दू में व्यावहारिकता मिलती है। जो लेखक उर्दू साहित्य से अपरिचित थे, उनके निबंधों में कृत्रिमता मिलती है।--गुप्तजी की भाषा बहुत चलती, सजीव और विनोदपूर्ण होती थी। किसी प्रश्न का विषय हो, गुप्तजी की लेखनी उसपर विनोदपूर्ण रंग चढ़ा देती थी। उनके विनोदपूर्ण वर्णनात्मक विधान के भीतर विचार और भाव लुके-छिपे-से रहते थे।*

इनका एक निबंध-संग्रह 'गुप्त-निबंधावली' के नाम से निकला था, जो अब अप्राप्य है। 'शिवशंभु का चिट्ठा' से एक छोटा-सा अंश नीचे उद्धृत किया जाता है।

"भंग छानकर महाराजजी ने खटिया पर लंबी तानी और कुछ काल सुषुप्ति के आनन्द में निमग्न रहे। × × × हाथ पाँव सुख, पर विचार के घोड़ों को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिंदों की तरह इधर-उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशे में विचारों का तार बँधा कि बड़े लाट फुर्ती से अपनी कोठी में घुस गये होंगे और दूसरे अमीर भी अपने-अपने घरों में चले गये होंगे। पर वह चील कहाँ गई होगी? × × × हा! शिवशंभु को इन पक्षियों की चिंता है, पर वह यह नहीं जानता कि

* हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल ६१८-६१९

इन अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोपड़ी भी नहीं रखते।

—शिवशंभु का चिट्ठा

गोपालराम गहमरी, उपन्यास-लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। पर समय-समय पर इन्होंने उच्च कोटि के कुछ निबंध भी प्रस्तुत किये हैं, जो सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में छपते थे। इनके लेखों और निबंधों की भाषा बड़ी चंचल, चटपटी, प्रगल्भ और मनोरंजक है तथा विषय के अनुरूप बदलती रहती है। इनके निबंध भावात्मक कोटि के हैं। कुछ निबन्धों में चमत्कारयुक्त शैली का भी व्यवहार किया गया है, पर ऐसा नहीं कि पाठक मुख्य विषय से भटक जायँ।

बाबू व्रजनन्दन सहाय के लेख हैं, किन्तु इने-गिने। जो कुछ इन्होंने लिखा, हृदय की अनुभूति से। इनकी वाणी में सजीवता तथा सत्यता है। लेखक अपनी कला से पाठक को इतना वशीभूत कर लेता है कि पाठक एक भाव-तरंग दूसरी भाव-तरंगपर डूबता-उतराता फिरता है। इनके 'श्मशान' से कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

"यह संसार एक महाश्मशान है। जो चिताग्नि धधक रही है, उसमें जो न जले, ऐसी चीज ही दुनिया में नहीं है। जड़-प्रकृति किसी का मुँह नहीं देखती। जो सामने आता है, उसीको जलाती हुई, पहले की तरह धधकती हुई हँसती और किलकारती हुई चली जाती है—"

पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय के भी स्फुट निबंध देखने को मिलते हैं। किन्तु वे कवि पहले और लेखक बाद में हैं। अतः उनके निबंध की धारा में भी काव्य की ही भावभंगी रहती है। इनकी इस शैली में उपदेशात्मक और भावात्मक उद्गार दोनों ही सम्मिलित हैं। शैली में [illegible] की झलक साफ मिलती है। पांडित्य का

प्रदर्शन भी 'हरिऔध' जी की खास विशेषता है।—किन्तु एक ओर जहाँ इतिवृत्तात्मकता को अपना इन्होंने अलंकारों का अत्यधिक प्रयोग किया है जिससे शैली में दुरूहता आ गई है, तो दूसरी ओर ठेठ हिन्दी का ठाट भी देखने को मिलता है जिससे पाठक का मस्तिष्क हल्का हो जाता है।

कहीं-कहीं 'हरिऔध' जी ने ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग किया है, जो परिमार्जित रूप का द्योतक नहीं। 'जोरू' के समान निकृष्ट शब्द भी इनके लेख में आये हैं। 'दो-दो बातें' जैसे भावात्मक निबंध में भी भाषा जैसे मुहावरों की प्रदर्शिनी बन गई है—एक उदाहरण नीचे है—

"जो हमारा मुँह देखकर जीते हैं, हम उन्हीं को निगल रहे हैं और जो हमारे भरोसे पाँव फैलाकर सोते हैं, हम उन्हीं को आँखें बन्द करके लूट रहे हैं। हमीं में डूबकर पानी पीनेवाले हैं, आँख में उँगली करनेवाले हैं, आग लगाकर पानी को दौड़नेवाले हैं, रंगे सियार हैं, भींगी बिल्ली हैं और काठ के उल्लू हैं।"

कुछ लोगों का कहना है कि इस प्रकार के पद्यात्मक तथा मुहावरेदार गद्य में साधारण विषयों की व्यंजना नहीं हो सकती। बात कुछ हद तक ठीक भी है। जहाँ तक साधारण विषयों—जैसे इतिहास और भूगोल का संबंध है; क्योंकि कथानक लिखने में काव्यात्मक व्यंजना का लोप होना ही श्रेयस्कर है, इसके अलावे कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो 'हरिऔध' जी में भी पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की विशेषताएँ ढूँढ़ते हैं; किन्तु वे ये नहीं सोचते कि दोनों का क्षेत्र कितना भिन्न है।

"उपाध्यायजी में शब्द-बाहुल्य एवं वाक्य-विस्तार अधिक दिखाई पड़ता है, जो कि शुक्लजी के ठीक विपरीत है।··· शुक्लजी विषय-प्रतिपादन में अधिक सतर्क रहते हैं और गागर में

सागर भरते हैं। उसी में उन्हें अच्छी सफलता मिली है। उनके शब्द और वाक्य-समूह भावगांभीर्य से आक्रांत रहते हैं; परन्तु उपाध्यायजी में ऐसी बात नहीं दिखाई पड़ती। उनका भाव-निदर्शन अधिक काल्पनिक एवं साहित्यिक होता है। उसमें गद्यात्मक गठन भले ही न हो, परंतु मिठास और काव्यात्मक ध्वनि इतनी रहती है कि पाठक उधर ही आकृष्ट हो जाता है। इस ध्वनि-विशेष के कारण ही उनमें आलंकारिकता तथा आनुप्रासिकता अधिक स्थानों में दिखाई पड़ती है और कथन-प्रणाली विस्तृत होती है।"

बाबू श्यामसुन्दर दासजी का हिन्दी में सर्वोच्च हाथ रहा है। इन्होंने अपना सारा जीवन ही हिन्दी की सेवा में समर्पित कर दिया है। नागरी प्रचारिणी सभा के स्थापनकाल से लेकर बराबर हिन्दी भाषा, कवियों, खोज तथा इतिहास आदि के संबंध में लेख लिखते आए हैं। इनका प्रयत्न सराहनीय है। इनकी भाषा अरबी, फारसी या विदेशी शब्दों का स्वागत नहीं करती।

बाबू साहब की शैली में अभ्यास और अध्ययन का मेल है।—कालेज के उच्च कक्षाओं में हिन्दी को स्थान दिलाने का श्रेय आपको अधिक है। विद्यालयों ने हिन्दी को उच्च कक्षाओं में स्थान तो दिया, किन्तु विवेचना का धरातल ऊँचा न होने से पुस्तकों का अभाव खटका। बाबू साहब ने साहित्यालोचन लिखकर इसकी कमी पूरी कर दी; किन्तु फिर भी आधुनिक दृष्टि से विचार करने पर इन लेखों में शुक्लजी की गहराई नहीं मिलती।

भाषा के परिमार्जन में इनका स्थान द्विवेदी से बायें नहीं है। इनकी भाषा सर्वत्र मँजी हुई और व्याकरण-सम्मत है। विषय का प्रतिपादन करते समय पहले सूत्र-रूप में उसकी व्याख्या दे देते हैं, फिर 'सारांश यह है', कहकर, विस्तारपूर्वक उसकी व्याख्या करते

* हिन्दी गद्य-शैली का विकास—पृष्ठ ६०-६१

हैं। साहित्यालोचन के एक 'निबंध कला का विवेचन' में शास्त्रीय प्रणाली के दर्शन होते हैं। 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ' तथा 'समाज और साहित्य' आदि उच्च कोटि के निबंध हैं। भाषा में सजाव शृङ्गार की प्रवृत्ति कहीं लक्षित नहीं होती—मुहावरों, लोकोक्तियों का बिलकुल अभाव है।—एक विश्वविद्यालय में रहते हुए भी आपको 'हरिऔधजी' से तो जरूर नहीं पटता होगा। आपके विषय बिल्कुल नवीन हैं। किन्तु नवीनता होते हुए भी आपकी भाषा में कहीं शिथिलता नहीं दिखाई पड़ती। आपके निबंध—भावात्मक तथा विचारात्मक—दोनों कोटि में आते हैं।—कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं —

"यह बात स्पष्ट है कि मानव-समाज की उन्नति उस समाज के अन्तभूर्त व्यक्तियों के सहयोग और साहचर्य से होती है, पर इस सहयोग और साहचर्य का साफल्य तभी संभव है, जब परस्पर भावों या विचारों के विनिमय का साधन उपस्थित हो। भाषा ही इसके लिए मूल साधन है और इसीकी सहायता से मानव-समाज की उन्नति हो सकती है। अतएव भाषा का समाज की उन्नति के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है"—यहाँ तक कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं। पर यहीं उनके संबंध के साफल्य की इति-श्री भी नहीं होती। दोनों साथ ही साथ चलते हैं। समाज की उन्नति के साथ भाषा की उन्नति और भाषा की उन्नति के साथ समाज की उन्नति होती रहती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि उनका अन्योन्याश्रय संबंध है।"

—साहित्य और समाज शीर्षक लेख से

निबंध-लेखकों में श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का भी एक विशिष्ट स्थान है। बाबू साहब की तरह ये भी भाषा को सजाना नहीं जानते। पंडित न होते हुए भी बाबू साहब की शैली पांडित्यपूर्ण

है। पंडित होते हुए भी गुलेरीजी की शैली शिष्ट, नितान्त स्पष्ट, सरल एवं व्यावहारिक है। उनकी भाव-भंगी उत्कृष्ट और इनकी चटपटी है।" उनकी शैली में संस्कृत की छाप और वाक्य-विन्यास में विस्तार है; परन्तु इनकी शैली चलती, सरल और विशिष्टतापूर्ण है तथा वाक्य-विन्यास आकर्षक, गठित और मुहावरेदार हैं। इनके इतिवृत्त की कथन-प्रणाली में भी विभिन्नता है। दासजी इस विचार से अधिक आलंकारिक एवं साहित्यिक हैं और गुलेरीजी मुहावरे पर जान देनेवाले और व्यंगपूर्ण हैं। इन विभिन्नताओं का प्रधान कारण है—दोनों लेखकों का साहित्य-रचना का उद्देश्य। दोनों दो भिन्न विषयों के लेखक हैं। दासजी के विषय अधिकांश में साहित्यिक आलोचना और भाषा-विज्ञान के हैं और गुलेरीजी प्रधानतः सामयिक विषयों पर लिखते थे। उन सामयिक विषयों में आलोचना, इतिहास, समाज-सुधार के प्रश्न विशेषत: आते हैं। कार्यक्षेत्र एक रहने पर भी दोनों लेखकों के मार्ग सर्वथा भिन्न हैं।

गुलेरीजी की शैली में विचित्र चुटपुटापन है। किसी विषय को छोटे-छोटे शब्दों एवं वाक्यों में आकर्षक तरीके से व्यक्त कर देना इनकी खूबी है। गुलेरीजी जिस समय 'समालोचक' नामक पत्रिका का सम्पादन कर रहे थे, उस समय उनके अधिकतर निबंध उसी में छपते थे। कहना न होगा कि उस पत्र द्वारा गुलेरीजी एक अनूठी शैली लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे थे। ऐसा शिष्ट, गंभीर एवं पांडित्यपूर्ण लेख कहीं देखने को न मिला। गूढ़ शास्त्रीय विवेचनों में भी आपका वही हास्य मिश्रित रहता था। किन्तु हास्य इतना गंभीर होता था कि विभिन्न विषयों की जानकारी रखनेवाले ही इसका आनन्द ले सकते थे। व्याकरण के रूखे-सूखे लेखों में भी आप अपना वही आनन्द उँड़ेल देते थे।

---

* हिन्दी गद्य-शैली का विकास, पृष्ठ १०८

विषय को रोचक बनाने के लिए कहीं-कहीं उर्दू शब्दावली का भी प्रयोग कर देते थे। अंग्रेजी का भी प्रयोग यत्र-तत्र मिलता है। इनमें से कुछ तो बोधगम्य हैं, किन्तु कुछ अव्यावहारिक एवं जटिल हैं। इन जटिल शब्दावलियों के व्यवहार से कहीं-कहीं तो बोधगम्यता नष्ट हो गई है। और खासकर अंग्रेजी न जाननेवालों के लिए तो यह भार हो जाता है। भाव प्रगट करने में दूसरी भाषा का सहारा लेने से तो अपनी भाषा की अव्यंजनात्मकता ही प्रगट होती है; किन्तु जिस समय गुलेरीजी गंभीर विषयों का प्रतिपादन करते हुए पाये जाते हैं, उस समय उनकी भाषा परिमार्जित तथा प्रौढ़ ज्ञात होती है। ऐसे लेखों में साहित्यक मसखरापन भाव की गंभीरता से आतंकित हुआ दीखता है। गंभीर विषयों पर लिखे गये लेखों की भाषा संस्कृत-बहुला है; किन्तु सब कुछ होते हुए भी इनकी गंभीर रचनाओं में बल है—आकर्षण है। 'कछुआ धरम' और 'मारेसि मोंहि कुठाऊँ' ये दो निबंध अत्यंत लोकप्रिय हैं। हास्य तो नाम से ही टपकता है। 'कछुआ धरम' की चंद पंक्तियाँ नीचे हैं।

किसी बात का टोटा होने पर उसे पूरा करने की इच्छा होती है। दुःख होने पर उसे मिटाना चाहते हैं। यह स्वभाव है। संसार में त्रिविध दुख दिखाई पड़ने लगे। उन्हें मिटाने के लिए उपाय भी किए जाने लगे। 'दृष्ट' उपाय हुए। उनसे संतोष न हुआ तो सुने-सुनाये उपाय किये। उनसे भी मन न भरा। सांख्यों ने काठ-कड़ी गिन-गिनकर उपाय निकाला, बुद्ध ने योग में पककर उपाय खोजा। किसी न किसी तरह कोई उपाय मिलता गया। कछुओं ने सोचा, चोर को क्या मारें, चोर की माँ को ही न मारें। न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी। लगीं प्रार्थनाएँ होने —

"मा देहि राम! जननी जठरे निवासम्।"

पं० पद्मसिंह शर्मा की एक अनूठी शैली है। सबों से भिन्न।

शर्माजी उर्दू साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। उर्दू से हिन्दी में आये लेखकों में एक खास विशेषता है कि वृद्धों की-सी गंभीरता अथवा निराशावादियों की-सी निर्जीव शान्ति नहीं रहती। वे जीवन को महत्व देते हैं और उसकी रमणीयता पर मुग्ध होते हैं। शर्माजी की भाषा में स्निग्ध सजीवता, अस्फुट मुस्कान तथा चंचल मार्मिकता है। "एक अल्हड़ किशोरी की भाँति इनकी भाषा भावना के अंचल से ढँकी कल्पना के हरित मैदानों में ताली बजाती हुई—पल यहाँ, पल वहाँ दौड़ती है। कोई तनिक भी छेड़ेगा तो वह रूठ जायगी, ऐसा नाज, ऐसा अंदाज इनकी उस भाषा में है

'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ' शीर्षक निबंध से कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

और लीजिए, दूसरे मित्र विश्वनाथ हैं। यह बाल-बच्चेवाले आदमी हैं, और रात-दिन इन्हीं की चिंता में रहते हैं। जब कभी मिलने आते हैं, तो तीसरे पहर के करीब—जब मैं काम से निपट चुकता हूँ। पर इस कदर थका हुआ होता हूँ कि जी यही चाहता है कि एक घंटे आरामकुर्सी पर चुपचाप पड़ा रहूँ। पर विश्वनाथ आये हैं, उनसे मिलना जरूरी है, उनके पास बातें करने के लिए सिवा अपनी स्त्री और बच्चों की बीमारी के और कोई मजमून नहीं। मैं कितनी ही कोशिश करूँ, पर वह उस विषय से बाहर नहीं निकलते। यदि मैं मौसिम का जिक्र करता हूँ, तो वह कहते हैं, हाँ, बड़ा खराब मौसिम है। मेरे छोटे बच्चे को बुखार आ गया, मझली लड़की खाँसी से पीड़ित है। यदि पौलिटिक्स वा साहित्य-संबंधी चर्चा प्रारंभ करता हूँ तो वह फौरन् फरमाते हैं कि भाई आजकल घर-भर बीमार है। मुझे इतनी फुर्सत कहाँ कि अखबार पढ़ूँ।

* हिन्दी निबंध का विकास—चन्द्रप्रकाश वर्मा। पृष्ठ १६१

रहे हैं। इनके लेख अधिकतर हास्य और व्यंग्यपूर्ण हैं। और जो इनसे परे हैं, वे निबंध नहीं भाषणमात्र हैं।

बाबू गुलाब राय की लेखनी अध्यापक पूर्ण सिंह से कुछ समता रखती है। इनके निबंध विचारात्मक तथा भावात्मक दोनों कोटि के हैं। इन्होंने लिखना तब आरंभ किया जब भाषा का परिमार्जनकाल था। शुक्लजी और श्यामसुन्दर दास की तरह इनके निबंधों में भी आत्म-निश्चय की भावना मिलती है। व्यक्तित्व की छाप इनके निबंधों में कम दीख पड़ती है। वास्तव में उन्हीं निबंधों में व्यक्तित्व की छाप है, जो लेखक की निजी अनुभूति से लिखे गये होते हैं। बाबू गुलाब राय के लेख जैसे कहीं से क्रम करके लिख दिये गये हैं।

शैली के विचार से आपके निबंध दो भागों में बाँटे जा सकते हैं। पहले भाग में संस्कृत-प्रधान शैली है। अंग्रेजी शब्दों और मुहावरों का प्रयोग सहृदयता के साथ किया गया है। उदू के चलते शब्द भी आये हैं। दूसरे में भाषा श्यामसुन्दर दास की पीठ पूजती है—पूरी संस्कृत-गर्भित। वाक्य छोटे-छोटे आये हैं, जो शैली को तर्क-प्रधान बना डालते हैं। भावात्मक निबंधों में काव्यमय सुषमा शैली को घेरे हुए हैं। तर्क की प्रवृत्ति वही बनी हुई है। पूर्ण सिंह से इनकी यहीं पर दुश्मनी होती है। पूर्ण सिंह के भाव-प्रधान लेखों में तार्किकता सदा गौण रहती है। पर बाबू गुलाब राय के लेखों में भाव सदा ही गौण रहता है। हाँ, बोधगम्यता है; क्योंकि साहित्य-संदेश को माध्यम बना विद्यार्थियों को पढ़ाना है न।

हिंदी साहित्य के निबंध का दूसरा-युग यहीं समाप्त हो जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साथ निबंध-साहित्य में एक नये युग की अवतारणा होती है। एक ईश्वरीय प्रदत्त प्रतिभा लेकर साहित्य-जगत में उतरते हैं। इन्होंने हिन्दी-साहित्य को जितने प्रकार की रचनायें प्रदान की हैं, उन सभी प्रकार की रचनाओं का श्री गणेश उनके साहित्यिक

जीवन के आरंभ से ही दिखाई पड़ता है। इन रचनाओं को प्रस्तुत करने की प्रतिभा का बीज आचार्य शुक्ल में आरंभ से वर्तमान था जिसका आगे चलकर क्रमशः विकास हुआ। 'चिंतामणि' के निबंधों में जो प्रौढ़ता और परिष्कार मिलता है, वह उनकी निबंध रचना-शक्ति के विकसित और प्रौढ़तम फल हैं। उपन्यास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिंदी, मित्रता, भाषा की शक्ति, साहित्य इत्यादि इनके प्राचीन निबंधों में से हैं। इनमें से कुछ निबंध तो १६०४ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए हैं। किन्तु इन निबंधों में भी चिन्तामणि के गूढ़तम निबंधों के बीज निहित हैं। इस तरह हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि आचार्य शुक्ल के पहले और पीछे के निबंधों में काफी साम्य है। कम से कम शैली तो हूबहू वही है। आरंभ और अन्त करने के ढंग में भी कोई खास अदल-बदल नहीं मालूम पड़ता। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि आचार्य के पहलेवाले निबंधों में निबंधतत्व का पूर्ण रूपेण सन्निवेश नहीं हुआ है। फिर भी उस समय के निबंधों में तो इनका सर्वोच्च स्थान है ही।

आचार्य शुक्ल के प्रौढ़ावस्था में लिखे गये प्रायः सभी निबंध 'चिंतामणि' में संग्रहीत हैं। इनको सम्यक आलोचना के लिए दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक श्रेणी में भावों वा मनोवेगों पर लिखे गये निबंध आते हैं और दूसरी में समीक्षात्मक निबंध। समीक्षात्मक निबंधों की भी दो श्रेणियाँ हैं—एक में सैद्धान्तिक समीक्षा की गई है, जैसे साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद। काव्य क्या है इत्यादि। इन निबंधों को काव्यशास्त्रीय निबंध भी कह सकते हैं। दूसरे प्रकार के निबंध व्यावहारिक समीक्षा पर लिखे गये हैं—तुलसी का भक्तिमार्ग, मानस की धर्म-भूमि इत्यादि। भावात्मक निबंध जो मन के भावों या विकारों पर आधारित हैं, वे हैं उत्साह, करुणा, घृणा, ईर्ष्या, भय, क्रोध इत्यादि। ये भावात्मक निबंध हिन्दी साहित्य के

नवीनतम वस्तु हैं। इस कोटि के निबंध शायद ही किसी दूसरे विदेशी साहित्य में पाये जायँ। और अब तो शायद अंग्रेजी में इन सभी निबंधों के अनुवाद हो गये हैं। आचार्य शुक्ल के पहले भी बहुत-से लोगों ने भावात्मक निबंध लिखे, पर वे विषयों पर साहित्यिक दृष्टि से उस प्रकार विचार न कर सके जिस प्रकार आचार्य शुक्ल ने किया। किसी भी हल्के से हल्के विषय को साहित्यिक रंग में रंग देना शुक्ल-जी को ही आता था। बालकृष्ण भट्ट के 'आत्म-निर्भरता' शीर्षक लेख में केवल लाभ ही जताया गया है। प्रतापनारायण मिश्र के मनोयोग की भी यही दशा है। माधवप्रसाद मिश्र के 'धृति और क्षमा' और शुक्लजी के 'धृति और क्षमा' में आकाश-पाताल का अन्तर है। शुक्लजी में भावों और मनोवेगों का सम्यक चित्रण हैं जब कि मिश्रजी में विवेचन का सूत्र धर्मशास्त्रीय रखा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भावात्मक विषयों पर निबंध तो पिछले युग में भी लिखे गये, किन्तु उनका साहित्यिक महत्व बहुत ही कम हुआ। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि वे यदि शुक्लजी की कोटि में नहीं आ सके तो वे किसी काम के नहीं और लोग उन्हें हेय दृष्टि से देखें। हमें तो समझना चाहिए कि वृक्ष से बीज ही श्रेष्ठ हो, क्योंकि बीज में पेड़ अन्तर्निहित है। यदि पूर्व के लेखकों ने निबंध साहित्य का बीजारोपण नहीं किया होता तो शायद शुक्लजी को भी उत्तेजना नहीं मिलती और तब शायद वे भी इस ओर कलम नहीं उठाते;अतः पिता का पुत्र से महत्व अधिक ही है यद्यपि पुत्र उच्चतर शिखर पर क्यों न आरूढ़ हो जाय।

आचार्य शुक्ल ने मानव-जीवन और समाज में व्यवहृत प्रधान-प्रधान भावों पर ही विचार किया है। पर एक पर विचार करते हुए उसके सामीप्य शब्दों पर भी कुछ प्रकाश पड़ ही गया है। जैसे भय पर विचार करते हुए उन्होंने आशंका पर विचार प्रकट किया है; क्रोध पर लिखते हुए प्रतिकार को भी नहीं छोड़ा है। बात यह है कि शुक्लजी

ने जो कुछ लिखा है, वह शास्त्रों की सम्मति पर नहीं। शास्त्रों से भावनाएँ उधार लेकर नहीं, प्रत्युत् अपनी एकमात्र अनुभूति से, जिसे समाज में रहकर उन्होंने अर्जन किया था। जो कुछ भी उन्होंने लिखा है, अनुभूति-जन्य है। जो निबंधकार की सर्वश्रेष्ठ विशेषता है। निबंध गद्य की कसौटी इसीलिए है कि निबंधकार की आत्मानुभूति उसमें निहित रहती है।—

पूर्व के निबंधकारों के निबंध मनोवैज्ञानिक हैं। भावों और विकारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उनके निबंधों में है। पर शुक्लजी में यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं, शायद इसका कारण है। इनके निबंधों में व्यावहारिक पक्ष की उपस्थिति मनोवैज्ञानिक तरीके से इन्होंने भावों की छान-बीन नहीं की है। चारों ओर साहित्यिकता मिलती है। भावों पर विचार करते हुए भी वे साहित्यिकता को नहीं त्याग सके। इसी कारण इनमें मनोवैज्ञानिक लेखों की तरह दुरूहता और रूखापन नहीं है, वरन् सरलता तथा रोचकता है। अत: इनके निबंध मनो-वैज्ञानिक नहीं, साहित्यिक हैं।

अन्त में हमें शुक्लजी के समीक्षात्मक निबंधों पर विचार कर लेना आवश्यक है। इनके समीक्षात्मक निबंधों के दो भेद हैं—व्यावहारिक समीक्षा और सैद्धांतिक समीक्षा। सैद्धान्तिक समीक्षा से तात्पर्य काव्यशास्त्र पर लिखे गये निबंधों से है। इन विषयों पर विचार करते हुए हम स्पष्ट देख सकते हैं कि पूर्वकाल में भी इन सिद्धान्तों की काफी विवेचना हुई है। काव्यशास्त्र के विविध अंगों पर एक नहीं, अनेक लेखकों ने लिखा है। फिर क्या कारण है कि शुक्लजी के निबंधों को अधिक प्रश्रय दिया जाय। पूर्व के लेखकों की लेखन-पद्धति एक ही रही है। काव्य-शास्त्र पर विचार करते हुए वे सूत्ररूप में उन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं, जो आदि ऋषि-महर्षियों द्वारा बनाये गये हैं। किन्तु शुक्लजी की डफली अलग ही

है। वे न अपनी भारतीय काव्य-परिपाटी का ही अनुकरण करते हैं, न पश्चिमीय परिपाटी का ही। इन्होंने एक तीसरी पद्धति का अनुकरण किया, जो सर्वथा स्वयं के अध्ययन, मनन और चिंतन से प्रसूत विचार वा सिद्धान्त का व्यक्तिकरण था।

पारस ने लोहे को छुआ न कि वह सोना हो गया। प्रसादजी ने साहित्य के जिस अंग को स्पर्श किया, ज्योतित हो उठा। क्या नाटक, क्या कहानी, क्या उपन्यास, क्या निबंध—चारों ओर इनकी प्रतिभा बिखरी मिलती है। इनके निबंधों में तो इनका व्यक्तित्व स्पष्ट छलकता दिखाई पड़ता है। काव्य और कला तथा अन्य निबंध तथा 'चित्राधार' में इनके निबंध संग्रहीत हैं। प्रेमचंदजी की शैली में सरलता और व्यावहारिकता मिलती है। पर प्रसादजी में ठीक मुंशीजी के विपरीत संस्कृत की सुन्दर शब्दावलियों से लदी हुई साहित्यिकता, दार्शनिकता एवं भावुकता परिलक्षित होती है। भाषा-सौष्ठव का जितना परिष्कृत रूप हमें प्रसादजी की रचना में प्राप्त होता है, वह स्तुत्य है। इस सौष्ठव में मनोहरता रहती है और ओज एवं माधुर्य का चमत्कारिक उपयोग दिखाई पड़ता है। * भाषा में धाराप्रवाह सर्वत्र वर्तमान रहता है। किन्तु जहाँ आवेश में भावनाओं की उत्तेजनापूर्ण व्यंजना होती है, वहाँ शैली में एक अन्यतम प्रवाह आ जाता है। एक शब्द दूसरे शब्द को धक्का देते हुए आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है। हाँ, ऐसे स्थलों पर पाठक की दुरूहता अवश्य बढ़ जाती है, शाब्दिक चित्र स्पष्ट ग्रहण करने में वह असमर्थ हो जाता है।—

शब्दों के द्वारा चित्र व्यक्त करने की शक्ति आपमें अद्भुत है। दृश्यों की सूक्ष्म से सूक्ष्म रेखाओं को पाठक देख सकते हैं। हृदय की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं शोक, क्षोभ, ग्लानि, वेदना को व्यक्त करने में आप सिद्धहस्त हैं। भाव और भाषा की एक विचित्र सन्धि है।—

---

* हिन्दी गद्य-शैली का विकास, पृ० १३२

बंगला के शब्द प्रधान चमत्कारिक शैली का आप उपयोग नहीं करते, न उर्दू के शब्दों को ही व्यवहार में या भाषा में स्फूर्ति लाना चाहते हैं। बल्कि संस्कृत की रस-सिक्त कोमल पदावलियों का व्यवहार कर भाषा में एक विचित्र माधुर्य लादते हैं जिससे पाठक का हृदय रस से आप्लावित हो जाता है। आपकी शैली एक तीसरी शैली है, जिसे पीछे के किसी भी लेखकों ने काम में नहीं लाया था। तात्पर्य यह नहीं कि संस्कृत की सारगर्भित शैली प्रयोग में नहीं लायी गई थी। लाई गई थी अवश्य, किन्तु उनमें विशेष क्लिष्टता थी। कहीं-कहीं तो समासान्त पदावलियों से वाक्य का रूप-रंग ही बिगड़ जाता था। किन्तु उन्हीं समासान्त पदावलियों को प्रसादजी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यवहार में लाया है, जिससे वाक्य चमक उठे हैं। अलंकारों के प्रयोगों में खास रमणीयता आ गई है—मुहावरों के अत्यन्त अल्प प्रयोग होने से भी सौष्ठव में कमी नहीं आई है।

प्रसादजी के निबन्धों की अभिव्यक्ति बहुत ही कौशल के साथ हुई है। इनमें गम्भीर मौलिक अध्ययन के दर्शन होते हैं। हास्य और व्यंग्य का पुट इनमें बहुत कम है। गंभीर दार्शनिकता के कारण निबंधों में शुष्कता आ गई है। पर फिर भी काव्यमय शैली माधुर्य घोल देती है—

शुक्लजी की तरह उसमें विचारों का गूढ़ गुम्फन है। काव्य और कला में निबंध के शास्त्रीय ढंग से काव्य और कला का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यथार्थवाद और छायावाद में वर्तमान साहित्य की दो प्रमुख धाराओं की विवेचना है। चन्द पंक्तियाँ देखें:—

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत

साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। × × × ×

कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है, वह नहीं है; किन्तु यौवन के भीतर रमणी-सुलभ श्री की बहिन ही है, घूँघटवाली लज्जा नहीं। संस्कृत साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है।

—यथार्थवाद और छायावाद

प्रसादजी के समकालीन प्रेमचन्दजी ने भी हिन्दी की अच्छी सेवा की। आप उर्दू भाषा-शैली की सम्पूर्ण स्पृहणीय विशेषताओं को लेकर हिन्दी के क्षेत्र में पधारे। आपने निबंध तो कम लिखे, किन्तु जो लिखे, उनकी भाषा इतनी आकर्षक बन पड़ी है—जैसे जादू फेंक रही हो। रचनाओं की शैली में पूर्णतः व्यावहारिक रूप का आभास मिलता है। वाक्यों का गठन, शब्दों का चयन तथा भाषा की चुस्ती हृदय को आकर्षित कर लेती है। इनके मुहावरों की छटा तो अनोखी है; जैसे—"उस समय गिरिधारी लाल का चेहरा देखने योग्य होगा। मुँह का रंग बदल जायगा। हवाइयाँ उड़ने लगेंगी, आँखें न मिला सकेगा। शायद मुझे फिर मुँह न दिखा सके।"

आपके निबंधों में इतिवृत्तात्मकता कम है और विवेचना अधिक। उर्दू, फारसी, अरबी, अंग्रेजी इत्यादि के शब्द आवश्यकतानुसार बिना भेद-भाव के ग्रहण कर लिए गये हैं। शैली हिन्दुस्तानी के सन्निकट है। शुक्लजी के निबंधों में भावों और विचारों का गूढ़ गुम्फन है। जयशंकर प्रसाद में भी शुक्लजी की ही छटा है। किन्तु प्रेमचंदजी के निबंधों में भावों और विचारों का व्यापक प्रसार है। यथा—"अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक

जाते हैं, तो इच्छा होती है, किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठावें।"

वाक्य छोटे-बड़े सभी प्रकार के बदलते रहते हैं जिस प्रकार भाव बदलता है। शृङ्गार-वर्णन की भाषा मधुर एवं रमणीय है तथा क्रोध जताने की भाषा कुछ चोटीली है। इनके निबन्ध अधिकतर 'हंस' में निकला करते थे, जो इन्हीं के सम्पादकत्व में निकलता था। 'कुछ विचार' इनके निबंधों का सुन्दर संग्रह है। श्री रायकृष्णदासजी लक्ष्मीवाहन होते हुए भी सरस्वती के चरणों में बैठने का प्रयत्न करते रहते हैं।

आपके गुण कम, किन्तु गायक अधिक हैं। आपकी तथाकथित कृतियों का ढोल बजा-बजाकर प्रचार किया जाता है। फिर भी जो आपके नाम की चीजें हैं, बेजा नहीं हैं। कुछ तो ऐसी लगती हैं, जैसे मौलिक हों। श्री वियोगी हरि भावुक प्रकृति के भक्त-हृदय तथा साहित्यानुरागी लेखक हैं। इनके निबन्धों की शैली काव्यात्मक है। पगली, अंतर्नाद तथा ठंढे छींटे सुन्दर बन पड़े हैं।

श्री पदुम लाल पन्ना लाल एक सफल निबन्धकार हैं। ये हिन्दी के विद्वान् तो हैं ही, पाश्चात्य साहित्य के भी उत्कट विद्वान् हैं। इनकी शैली आलोचनात्मक है, भाषा विचारों पर प्रभाव डालती हुई तथा भावों को उद्दीप्त करती हुई आगे बढ़ती है। इनके सभी निबन्धों में भारतीय वाङ्मय से पश्चिमीय वाङ्मय की तुलना की गई है। इनका विश्व-साहित्य दस निबन्धों का सुन्दर संग्रह है। पाश्चात्य समीक्षात्मक प्रणाली से अधिक काम लेने से ही इसे 'विश्व-साहित्य' कहा गया है। प्रबंध-पारिजात केवल निबंध-निर्माण की कला की दृष्टि से लिखी गई है। किन्तु इसे साहित्यिक निबंधों की कोटि में रखना ठीक नहीं। आप 'सरस्वती' के सम्पादक भी रह चुके हैं जिसमें आपके फुटकर लेख निकला करते थे।

श्री नंददुलारे वाजपेयी उच्च कोटि के निबंध-लेखक तथा समालोचक हैं। इनके लेख सुष्ठ और गंभीर होते हैं। भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित होती है। आपके अधिक लेख प्रगतिवाद के समर्थन में लिखे गये हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी के लेख हिंदी साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। इनकी मूल्यवान कृतियाँ अपना एक अलग व्यक्तित्व रखती हैं। 'सूर साहित्य' और 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' काफी सुन्दर आयी हैं।

धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी साहित्य के गंभीर मर्मज्ञ और भाषा-शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित हैं। इनके स्फुट निबंध सामयिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। डा० वर्मा की मुख्य विशेषता यह है कि इनकी शैली अत्यन्त सरल, सुव्यवस्थित और तर्कपूर्ण है। इनकी विचार-धारा में नवीनतम विषयों पर लिखे गये निबंध संग्रहीत हैं। इनकी 'साहित्य-समालोचना' इनके निबंध-कला-कौशल का उत्कृष्ट प्रमाण है।

महाराज कुमार डा० रघुवीर सिंह भी हिन्दी साहित्य के अच्छे विद्वान् हैं। साथ ही निबंध की कला से भी ये अच्छी तरह अवगत हैं। इनके दो निबंध-संग्रह 'शेष स्मृतियाँ' और 'सप्तद्वीप' सुन्दर बन पड़े हैं। रामकृष्ण शुक्ल भी साहित्यिक विषयों पर सुन्दर निबंध लिखते हैं। परिपाटी वही पुरानी है। जैनेन्द्रकुमार भी आजकल निबंध लिखने में रत हैं। 'जैनेन्द्र के विचार' शीर्षक एक पुस्तक प्रकाशित भी हो चुकी है, जो निबंधों का संग्रह है। अपने आदर्शवाद के साथ इन्होंने सामयिक तथा सामाजिक नवनिर्माण की ओर भी अपने निबंधों में काफी संकेत किया है। ये मनुष्य की सद्वृत्तियों और आध्यात्मिक संभावनाओं को जागृत करनेवाले लेखक हैं। प्रत्येक निबंध इनके नये-नये प्रयोग हैं।

निबंध-लेखकों में शान्तिप्रिय द्विवेदी का महत्वपूर्ण स्थान है साहित्यिक विषयों पर आपके निबंध आलोचनात्मक ढंग के, किन्तु

बड़े सुन्दर हैं। इनके निबंधों में आत्मीयता की एक झलक दिखाई पड़ती है, जो कम में पाई जाती है। इनके निबंध अध्ययन के फल-स्वरूप लिखे गये नहीं जान पड़ते, वरन् सहृदयता से प्रसूत उनकी साहित्यिक सूक्ष्म दृष्टि के परिचायक हैं। 'कवि और काव्य', 'साहित्यिकी', 'जीवन-यात्रा', 'हमारे साहित्य-निर्माता' तथा 'संचारिणी' पाँच निबंध अभी तक प्रकाशित हो चुके हैं। इनके निबंधों का समुचित आदर हिंदी-साहित्य में हुआ है। कविवर सियारामशरण गुप्त भी निबंध के क्षेत्र में कदम डाल चुके हैं। झूठ-सच २८ निबंधों का संग्रह प्रकाशित भी हो चुका है। ठाकुर श्रीनाथ सिंह जैसे सब कुछ लिखते हैं वैसे निबंध भी लिख लेते हैं। घात-प्रतिघात से परे होने पर तो निबंध बन पड़ते हैं, नहीं तो गोबर हो जाते हैं। निबंधों में रोचकता रहती है।—

पंडित मोहन लाल महतो 'वियोगी' ने सभी क्षेत्रों में अपने पांडित्य का परिचय दिया है। क्या काव्य, क्या कहानी, क्या उपन्यास, क्या निबंध, सभी उत्कृष्ट बन पड़े हैं। आपके निबंधों की भाषा कहीं-कहीं काव्यपूर्ण हो जाती है। अंकित किये गये चित्र सुकुमार तथा भावपूर्ण होते हैं। आपके निबंध लिखने का कोई खास उद्देश्य नहीं। कभी-कभी विषय-निर्वाचन ऋग्वेद से लेकर 'पाप का सांस्कृतिक आधार' लिखते हैं तो कभी 'वे जिन्हें आप नहीं जानते' शीर्षक में गड़े भूतों को निकालते हैं।

बाबू शिवपूजन सहाय हिन्दी साहित्य के प्रमुख विद्वानों में से हैं। इनकी भाषा में विशुद्धता का विचार अधिक पाया जाता है। यत्र-तत्र उर्दू शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। किन्तु वहीं, जहाँ लेखों में चलतापन लाने का विचार है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों में विशुद्धता का ही निर्वाह न किया गया है। किन्तु विशुद्धता के साथ भाषा-सौष्ठव भी खूब बन पड़ा है। उसमें माधुर्य एवं ओज का अपूर्व

सम्मेलन है। साधारणतः शैली परिष्कृत, सतर्क तथा परिमार्जित है। अलंकारों की ओर काफी प्रवृत्ति है जिससे रचना में अनुप्रासों की प्रचुरता हो गई है। किन्तु ये अनुप्रास भी अपने ढंग के निराले हैं। बनावटीपन का लेश तक नहीं। स्वाभाविकता साफ झलकती है।

डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी—आप भाव-प्रकाशन की एक विचित्र शैली लेकर साहित्य-क्षेत्र में आये। मानव-हृदय की भावात्मक अनुभूति की बड़ी ही मार्मिक व्यंजना आपने की है। आपके लेखों में भावनाओं की गंभीरता के साथ-साथ भाषा भी संयमित रहती है। बात यह है कि गंभीर भावनाओं की सफल अभिव्यंजना सस्ती और चलती-फिरती भाषा में नहीं की जा सकती। इसके लिए उपयुक्त शब्दों की आवश्यकता होती है, जो आप बहुत सुन्दर ढंग से चयन करते हैं। उर्दू के शब्द कहीं-कहीं प्रयोग में आये हैं अवश्य, किन्तु नाममात्र के। अधिकतर संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया गया है। आपकी भाषा प्रौढ़ एवं परिमार्जित है। ललित शब्दों का प्रयोग आपको विशेष प्रिय है। किन्तु एक बात जो मुझे व्यक्तिगत रूप से ब्रह्मचारीजी के लेखों में खटकती है, वह है शैली का मोह। शैलीगत वैचित्र्य आपमें अधिक मिलता है। "वीरगाथा काल का चिता का भस्म ही भक्तमार्गियों के लिए भभूत सिद्ध हुआ।" शैलीगत वैचित्र्य का एक सुन्दर उदाहरण है। शैलीगत मोह के कारण बहुतेरे वाक्य दुहराये भी गये हैं। आपके एक भाषण से चंद पंक्तियाँ उद्धृत करता हूँ :—

"अपभ्रंश युग के बाद जब से हिंदी की स्वतंत्र सत्ता कायम हुई, आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व तब से इसके साहित्य-क्षेत्र में अनेकानेक प्रवृत्तिवल्लरियाँ पनपीं, फूली-फलीं और फिर अंशतः वा एकांशतः मुरझाईं। चंद ने जिस शृंगार संचलित वीर-साहित्य को विकसित किया, उसीने कालक्रम से खाद बनकर, कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की भक्ति

रस सींचित चतुर्विध कवितालता को जीवन-दान दिया। जब यह भी शुष्क हुई, तो इसी आलवाल से बिहारी, देव, मतिराम के स्फुट कुसुमों की कलियाँ प्रस्फुटित हुईं और कमनीय कामदेव तथा रमणीय रति ने चुन-चुनकर सुरभित सुमनों से अपने सुन्दर सायक बनायें। जब भारतेन्दु की किरणों के साथ नवयुग के सुरभित समीरण ने हिंदी के क्षेत्र में प्रवेश किया, तो ब्रजभाषा ने प्रव्रज्या ले ली और पड़ी हुई खड़ी बोली उठ खड़ी हुई।"

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के निबंध हिन्दी साहित्य में नये प्रयोग हैं। इनके निबंध एक युग-प्रवर्त्तक कवि की अभिव्यक्ति हैं। इसमें काव्य, कला, दर्शन तथा आत्म-निश्चय की झलक मिलती है। वाक्य भाव के व्यक्तीकरण के अनुसार ही छोटे-बड़े हुए हैं। भाषा पर कहीं-कहीं बंगला का प्रभाव स्पष्ट व्यक्त होता है। उर्दू के शब्दों का बेधड़क प्रयोग किया गया है; किन्तु जहाँ गंभीर भाव व्यक्त करना है, वहाँ इनकी संख्या न्यूनतम हो गई है और भाषा संस्कृत की ओर झुकी जान पड़ती है। मुहावरों का प्रयोग नहीं के बराबर है। इसमें ये भी 'प्रसाद' के अनुयायी जान पड़ते हैं। 'काव्य में रूप और अरूप' निबन्ध निराला की शैली का प्रतिनिधित्व करता है। कुछ पंक्तियाँ नीचे हैं—मँजे हुए रोजमर्रे के प्रयोग से भाषा काफी चिकनी और चालू हो गई है।

"काव्य तथा काव्य-जन्य संस्कृति पर भी यह प्रभाव पड़ा। प्राचीन मालकोश राग की वीर मूर्त्ति अंग्रेजी स्वर में, नायिका के दिल का दर्द भैरवी से अधिक उर्दू की गजलों में मिलने लगा और बहार तथा आसावरी की लोकप्रियता थियेटरों के भिन्न हृदय को गुदगुदाकर बाहरी चपलता से गिरह लगा देनेवाली रागिनियों ने ले ली।"

पंडित हंसकुमार तिवारी उच्च कोटि के सुन्दर निबंध लिखते हैं।

इनकी शैली बड़ी अनूठी होती है। इसकी तुलना किसकी शैली से की जाय, समझ में नहीं आता। किन्तु फिर भी यदि इसकी तुलना किसी से की जा सकती है तो वह केवल पं० रामचन्द्र शुक्ल की शैली से। जर्मन आलोचक बफन का कहना था—Style is the man him-self—शैली स्वयं लेखक का व्यक्त स्वरूप है। यह कथन तिवारीजी की शैली पर अक्षरशः लागू हो जाता है। इनकी भाषा शुक्लजी की तरह ही संयत, परिष्कृत, प्रौढ़ तथा विशुद्ध होती है। इसमें एक प्रकार का विचित्र सौष्ठव है, जो संभवतः किसी भी वर्तमान लेखक में नहीं पाया जाता। उसमें गम्भीर विवेचना एवं अनुभूति की पुष्ट व्यंजना मिलती है।

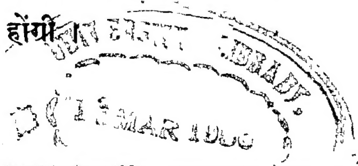
तिवारीजी के निबंधों में एक खासियत है। आपके लेखों में आपका व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। शैली भी किसी में पच नहीं सकती। आप चार लकीरें निकालकर किसी दूसरे लेख में जड़ दें, वे स्वयं पुकारकर कहेंगी···नहीं नहीं, मैं अमुक की नहीं, तिवारीजी की हूँ। किन्तु भाषा में एक बात है, जो अवश्य खटकती है—इसमें बोधगम्यता नहीं। इसे घुटे साहित्यिक ही समझ सकते हैं। और साहित्यिकों और तिवारीजी में इतनी ही भिन्नता है कि वे आम पाठकों के लिए लिखते हैं जबकि तिवारीजी उनके लिए लिखते हैं।

कविवर 'रुद्र' भी निबन्ध-रचना में अब काफी दिलचस्पी ले रहे हैं। ये उच्च कोटि के भावात्मक निबन्ध लिखते हैं। शैली में प्रवाह है; किन्तु कहीं-कहीं बोधगम्यता लुप्त हो गयी है और दुरूहता बढ़ गयी है। इनकी भाव व्यंजना में काव्य-कल्पना का उल्लास दिखाई पड़ता है। चलते उर्दू शब्दों का व्यवहार आप बिना हिचकिचाहट के कर लेते हैं; किन्तु फिर भी शैली संस्कृत की ओर अधिक झुकी हुई है। भाषा में उन्मुक्त उन्माद एवं विशुद्धता है। कभी-कभी तो प्रसादजी की तरह निबन्धों में कल्पना की उड़ान लेने लगते हैं और स्वर्ग का

आह्लादपूर्ण यौवन हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं और कभी वास्तविक जगत् की कठिनाइयों एवं स्वर्ग की मधुरिमामयी परिस्थितियों के मिश्रित चित्र का खाका खींचने लगते हैं। वसंतागम आपका उत्कृष्ट लेख है।

इनके अतिरिक्त प्रो० सत्येन्द्र, नगेन्द्र, विशंभर मानव, द्विज, सुधांशु, प्रो० जगन्नाथ मिश्र, प्रकाशचंद्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, माताप्रसाद गुप्त इत्यादि भी सुन्दर निबन्ध लिखते हैं। इनके निबन्ध हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। सामाजिक विषयों पर श्री शीतला सहाय ने, अर्थ-शास्त्र-सम्बन्धी विषयों पर दयाशंकर दुबे, श्री भगवान दास केला, श्री शंकर सहाय सक्सेना एवं श्री प्राणनाथ विद्यालंकार ने तथा वैज्ञानिक विषयों पर डा० गोरख प्रसाद, श्री फूलदेव सहाय वर्मा, डा० सत्यप्रकाश आदि ने बड़े उपयोगी निबन्ध लिखे हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन ने भ्रमण-सम्बन्धी अनेक रोचक निबन्धों की रचना की है।

लेखिकाओं में महादेवी वर्मा सुन्दर एवं भावपूर्ण निबन्ध लिखती हैं। इनके निबन्धों का एक सुन्दर संग्रह 'अतीत के चलचित्र' के नाम से प्रकाशित हुआ है जिसका "मनोवैज्ञानिक भावरेखाओं से बना हुआ व्यक्तित्व नितान्त मौलिक है।" चन्द्रावती लखन पाल, एम. ए., बी. टी. ने भी सुन्दर मनोवैज्ञानिक निबन्धों की रचना की हैं। इनके अतिरिक्त सुश्री चन्द्रावतीजी त्रिपाठी, सुश्री गोदावरी केलकर, कमला बाई किबे, सुश्री चन्दा बाई इत्यादि भी सुन्दर निबन्ध लिखती हैं। भगवान इनका कल्याण करे। ये हमारे साहित्य की स्थायी सम्पत्ति होंगी।



H. P. P. J. No 137 D. 17-9-46—2000